सौ सवाल : एक जवाब

संसार की कई समस्याओं का एक समाधान—गांधी

डा० प्रभाकर माचवे

राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली



गांधी स्मारक निधि, राजघाट, नई दिल्ली १
के सहयोग से
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण मई १९६७

मूल्य एक रुपया

मुद्रक राजकमल इलेक्ट्रिक प्रेस सब्जी मण्डी दिल्ली

वक्तव्य

अकबर इलाहाबादी ने उर्दू में कविता लिखी थी—

"बुद्धू मियाँ भी हजरते गाँधी के साथ हैं।
गो खाके राह हैं मगर आँधी के साथ हैं।।"

इसका अर्थ है कि आम आदमी भी महात्मा गाँधी के रास्ते पर चलने को आतुर है यद्यपि स्वयं उसकी अपनी शक्ति सीमित है परन्तु एक आन्दोलन के वायुमण्डल में वह भी बड़े-बड़े त्याग करने की सामर्थ्य पा गया है। यह गाँधी की आँधी जो भारत ने देखी और जिससे सारा संसार प्रभावित हुआ वह थी सामान्य व्यक्ति की त्याग सामर्थ्य को बढ़ाने वाले वातावरण की पावनता। देश की आजादी के लिए सबके मन में तड़पन पैदा हो गई थी, पर गाँधीजी ने एक ऐसा रास्ता सुझाया जिसमें हर नागरिक अपना योगदान दे सके। अहिंसा का जो रास्ता था वह थोड़े नेताओं को पैदा करने की बजाय आम जनता को ऊपर उठाने का रास्ता था, और उससे करोड़ों में चेतना आई और लाखों ने उसमें अपने त्याग का उदाहरण रखा।

पर आई आजादी। गाँधी का ऐहिक जीवन समाप्त हुआ। सत्ता और संपत्ति की सनातन होड़ में त्याग की शक्ति पर आधारित जनक्रांति के रास्ते से काफिला दूसरी तरफ मुड़ गया और ऐसा लगा कि गाँधी की आँधी थम गई। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन में जो भी परिवर्तन लाने हैं उनको केवल राज्य-सत्ता के आधार पर लाना सम्भव नहीं—यह भुला दिया गया और लोकशक्ति का जो जागरण गाँधी-युग में हुआ था और जो आगे

के बाद आग बढ़ना था वह न बना। त्याग के स्थान पर सत्ता और लोक के स्थान पर राज्यशक्ति क अधिक ज़ोर देने म जो नतीजे आये हैं वह सामने हैं।

पर क्या जो सास्कृतिक चेतना के तत्त्व गाधी जी न प्रतिपादित किये वह भुलाये जा सकते हैं? भारत म उनपर एक हलका परदा छा गया है पर ससार में, सभी देशा में तत्ववेत्ता उत्तरोत्तर अनुभव कर रहे हैं कि हिंसा की पराकाष्ठा के इस युग म अहिंसा की शक्ति का विकास ही उसका शमन कर सकेगा, और इसके लिए गांधी इस युग में एक दीपस्तम्भ हैं। यह पुस्तक तथा अन्य दो पुस्तक[१] गांधी विचार के पोषण मे गाधी जन्मशताब्दी (१९६९) के उपलक्ष्य म गांधी स्मारक निधि ने तैयार कराई हैं तथा राजपाल एण्ड सन्ज की ओर स प्रकाशित हो रही हैं। हमे पूर्ण आशा है कि जवान मे सादी विचारो म सहजगम्य तथा कट्टरता से परे और मौलिक तथा रोचक रूप मे लिखी विद्वान लेखको की ये पुस्तकें अपने उद्देश्य म सफल होंगी, और निधि का लोक-जागरण की यह आशा पूरी करेंगी कि—

बूद बूद से गागर भरती नदी नदी म सागर।
किरन इकट्ठा हुई कि होता सारा जगत उजागर॥

गांधी स्मारक निधि
राजघाट
नई दिल्ली १

देवेन्द्र कुमार

(देवेन्द्रकुमार गुप्त)
मन्त्री

१ भारत एक है सीताचरण दीक्षित मूल्य एक रुपया। करुणा की कहानियाँ डा० राजबहादुरसिंह मूल्य एक रुपया।

पुस्तक के सम्बन्ध मे

सदियो की गुलामी के बाद जब हमारा देश स्वतन्त्र हुआ तो उसके सामने कितनी ही समस्याएँ उठ खडी हुई—एक से एक पचीदी जटिल और उलभन भरी। यकबारगी उनका मुकाबला करना एक टेढ़ी खीर थी, पर सौभाग्यवश इन समस्यामो और उनकी उलभनो को सुलभाने वाला भी हमारा वही जादूगर नेता था जिसने आजादी की ईटें जमायी थीं। यह अनोखा अगुवा न तो समस्याओ की बहुलता मे घबराया और न उनकी पचीदगियो से, क्योंकि उनकी बुनियादी खामियो से वह पूर्णत अवगत था। उसने विभाजन और आजादी से उत्पन्न प्रत्येक समस्या का बारीकी से अध्ययन किया और साथ ही उनके सुलभाव का सहज, सुगम और सीधा रास्ता ढूढ निकाला।

हमारी इन समस्याओ की चर्चा देश विदेश मे सर्वत्र हुई—पक्ष विपक्ष मे तर्क वितर्क उठते रहे और उनके समीचीन एव समाधानकारक उत्तर भी दिये जाते रहे।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक—डा० प्रभाकर माचवे ने नजदीक और दूर दोनो से इन समस्याओ का अध्ययन किया— विद्यार्थी-जीवन से लेकर आश्रम-वास के समय तक गाँधी जी के निकट रहकर सूक्ष्म अध्ययन मे लगे रहे। विदेश—अमेरिका गये तो वहाँ भी गाँधी जी के सिद्धान्तों के अध्यापन-कार्य करते रहे और वहाँ उन्हे नीग्रो समस्या का अध्ययन निकट से करने का मौका मिला। इस सिलसिले मे विद्यार्थियो और

श्रोताओं ने उनसे सैकड़ों ही उलटे-सीधे प्रश्न किये और वे उन सबका विश्लेषणपूर्ण जवाब देकर उनका समाधान करते रहे। इस प्रकार उन्हें गांधी जी के मूलभूत सिद्धान्तों को समुचित रूप में प्रस्तुत करने का सुन्दर सुयोग मिला।

इस प्रकार लेखक को संसार के सौ सवालों का एक जवाब—गांधी के रूप में देना पड़ा जिसमें भारत की ही नहीं संसार की समस्याओं का उत्तर आ जाता है। लेखक की तद्विषयक बुनियादी जानकारी और गहन अध्ययन अनुभव एवं साधिकार प्रतिपादन ने इस पुस्तक को यात्रा विवरण और उपन्यास की तरह सरस मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक बना दिया है जिसकी झलक पाठक सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

६ गांधी मार्ग
राजघाट, नई दिल्ली

—राजबहादुरसिंह

क्रम

अध्याय १

राष्ट्रवाद

क्या कभी ऐसा दिन आयेगा जब दुनिया के अलग अलग राष्ट्र मिटकर दुनिया एक हो जायगी ? कुछ लोग आशावादी हैं और ऐसा सोचते रहे हैं। उन्हें अराजकवादी (अनार्किस्ट) कहते हैं, और मैलटेस्टा, क्रोपाटकिन, बाकुनिन, लास्की, मैकनेवर और मैरितैन जैसे कई विचारक और राजनीतिज्ञ ऐसा सोचते हैं। एक दिन ऐसा आयेगा कि अलग अलग छोटे-छोटे राष्ट्रों में दुनिया बँटकर नहीं रह सकेगी। क्या व्यापार और क्या विज्ञान, सब तेजी से दुनिया को एक बनाने की ओर बढ़ रहे हैं। अन्तर कम हो रहे हैं, और किसी भी राष्ट्र की ऐसी कोई बात नहीं है जो दूसरे से पूरी तरह छिपी हुई हो।

और इसीके साथ-साथ यह दृश्य भी देखने को मिल रहा है, विशेषत १८वी सदी से यूरोप में छोटे-छोटे राष्ट्र-राज्यों के विकास के बाद, कि एक राष्ट्र कई छोटे राष्ट्रों में बँटता जाता है। और छोटे राष्ट्र भी आपस में चैन से बैठ नहीं सकते। एक ही देश के हिस्सों में तनाव बढ़ता जाता है। कहीं सीमा-विवाद हैं, कहीं अपने राष्ट्र के विस्तार की हविस और महत्त्वाकांक्षा है, कहीं अपना ही मतवाद या जीवन-पद्धति दूसरे राष्ट्रों पर थोपने की बात है, कहीं धार्मिक

असहिष्णुता है। और गई दो सदियों का इतिहास ऐसे ही महायुद्धों से भरा है। जिनमें हासिल कुछ नहीं हुआ। अन्ध राष्ट्रवाद बढ़ता जाता है नाजीवाद, फासिस्तवाद, चीन जैसे साम्यवाद आदि अनेक उदाहरण हैं। आज इसराएल और जाडन के बीच कुछ तना तनी मुसल्सल है। तो कल वियतनाम में नर-संहार चलता है, और कभी जल्दी से समस्या से छुट्टी पाने के लिए अणु बम जैसे शस्त्रों के प्रयोग की धमकी दी जाती है।

अपने ही देश में, जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रेम गई एक डेढ़ सदी में पश्चिम के साथ विशेष सम्पर्क के बाद बढ़ता गया, दूसरी ओर, एक ही देश में से दो राष्ट्र और फिर कई प्रदेश और सूबे और छोटी-छोटी इकाइयों पर आग्रह किया जाता रहा है। कभी प्रश्न उठाया जाता है कि भारत में जब इतने धर्म, इतनी भाषाएँ, इतनी नस्लें और इतनी जीवन-पद्धतियाँ एक साथ मौजूद हैं तो यह एक राष्ट्र कैसे माना जाय? दूसरी ओर बार बार यह भी कहा जाता रहा है कि भारत के ये सब भेद बाह्य हैं, भारत की आत्मा एक, अखण्ड और पुरातन होते हुए भी नित्य नूतन होते जाने वाली है।

महात्मा गांधी जिस कालखण्ड में जीवित रहे, यानी १८६९ से १९४८ तक, उसमें विश्व में कई घटनाएँ घटित हुई, अफ्रीका में, यूरोप में और एशिया में। और गांधी जी ने अपनी प्रतिक्रियाएं उनके बारे में व्यक्त की। उनका सार्वजनिक जीवन दक्षिण अफ्रीका से शुरू हुआ। और भारत में तो वे १९१५ के बाद आये। पर तीस वर्ष के छोटे-से कालखण्ड में गांधी जी ने सन् '२०, सन् '३० और सन्

'४० के तीन बड़े असहयोग, सत्याग्रह और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आन्दोलन चलाए। लाखों-करोड़ों लोगों को उन्होंने प्रभावित किया। उनकी राष्ट्रीयता की क्या कल्पना थी ? और वह कैसे विकसित हुई ? क्या इसमे ससार कोई सीख नही दे सकेगा ?

गाधी जी ने कहा था—"मानव-जाति एक है क्योंकि हम सब एक ही नैतिक नियम से बँधे हे। परमात्मा की दृष्टि से सब मानव समान हैं। वर्ण और सामाजिक स्थान आदि के फर्क अवश्य हैं, पर जितना ही ऊँचा किसी आदमी का स्थान हो, उतनी ही उसकी जिम्मेदारी भी बढती जाती है। बिना सच्चे अर्थ मे राष्ट्रीय बने कोई अन्तर्राष्ट्रीय नही हो सकता। जब राष्ट्रीयता एक सत्य बन जाती है, तभी अन्तर्राष्ट्रीयता सम्भव है। यानी जब अलग-अलग देशो के लोग सगठित हो जाते हैं और एक व्यक्ति की तरह काम करते हैं तभी वह सम्भव है। राष्ट्रीयता पाप नही है। उसकी सकीर्णता और स्वार्थ-भावना बुरी है। आज के राष्ट्रो म आपस मे जो परस्पर घृणा है, वह पाप है। प्रत्येक राष्ट्र मानो दूसरे को शोषित करके, दूसरे के ध्वस पर अपना निर्माण करना चाहता ह।"

और गांधी जी ने यह भी कहा था—"मैं भारत का विनम्र सेवक हूँ और भारत की सेवा करने मे मैं सारी मानवता की सेवा करता हू। पचास वर्षों के सार्वजनिक जीवन के बाद मैं आज यह कह सकता हूँ कि मेरी श्रद्धा इस बात मे बढती गई है कि एक देश की सेवा सारे विश्व की सेवा से विसगत नही है। यह सिद्धान्त अच्छा है। उसे मानकर ही सारी दुनिया मे स्थिति सुधरेगी और इस दुनिया के गोले पर राष्ट्रो के बीच मे आपसी ईर्ष्या द्वेष मिटेगा।"

दिया जाय, उसे किसी छूत की बीमारी के आदमी की तरह अपने से अलग और दूर रखा जाय। यहा तक कि वे कुष्ठ रोगी की स्वय सेवा करते थे। और इसी कारण से इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण है कि गत महायुद्ध के आरम्भ मे, सन '४० मे, जब सेवाग्राम मे बापू के चरणो मे बठने का उसे सौभाग्य मिला, तब वे यूरोप की इतनी दूर की घटनाओं मे किस तरह से उद्वेलित थे। एक दिन सेवाग्राम आश्रम से शाम को अपने एक मील के घूमने पर बापू जा रहे थे। और साथ मे थे राजा जी। 'ग्राफ स्पी' नामक जहाज के आत्मसमर्पण के बजाय जहाज के प्रमुख द्वारा अपने-आपको डुबा लेने की बात सुनकर बापू टहलते हुए एकदम रुक गए। 'रुक, रुक' कहकर वे बड़ी देर तक सूने मे देखते रहे। कई मिनिटो का मौन रहा। दूर देशो म घटित होने वाले राष्ट्रीयता के नाम पर किये जाने वाले नर सहार' से उनका मन दुखी होता था। आश्रम म तभी जापानी भिक्षु न साय प्रार्थना मे एक-दो मिनट का आरम्भिक मौन शुरू कराया।

गांधी जी ने राष्ट्रीयता का एक सूत्र—निर्भयता—अपने पिता से सीखा, दूसरा सूत्र—दृढ निश्चय—माता से। राष्ट्र की सेवा के लिए त्याग और सहिष्णुता आवश्यक है यह भी उन्होंने माता से सीखा। पर प्रारम्भिक शिक्षा म उन्हे ऐसी कोई चीज नही मिली जो राष्ट्रीयता का अपनी सस्कृति, स्वधर्म और परम्परा के प्रेम से अलग परिभाषित करती। रामचन्द्र भाई के सम्पर्क से उन्हे अवश्य क्रांतिकारियो का कुछ पता चला पर गांधी जी को किसी भी प्रकार की हिंसा से प्रेम नही था।

उनका राष्ट्रीयता सम्बन्धी पहला साक्षात्कार विदेश-यात्रा में उन्हें मिलना आरम्भ हुआ। पहले उन्होंने अंगरेज साहब बनने की कोशिश की। साहबी कपड़े पहने, फ्रेंच और नाच और वायलिन सीखने का यत्न किया। पर बहुत जल्दी वे समझ गये कि 'मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा' वाला हाल है। बाह्य रूप बदल लेने से अन्तरंग नहीं बदला करता। उन्होंने जल्दी से समझ लिया कि—वह राह अपनी राह नहीं है। पश्चिम की अन्दर जैसी नकल हमें कहीं नहीं ले जायेगी। सो 'स्वधर्मे निधनश्रेयः, परधर्मोभयावह' वाली गीता की उक्ति उनके जीवन में ऐसे फलित हुई।

इंग्लैण्ड में भी गांधी शाकाहारी रहना चाहते थे—मां को उन्होंने वैसा वचन दिया था—और इससे वे लन्दन की शाकाहारी समिति के सदस्य बने। 'डेली टेलीग्राफ' के सम्पादक और भारत के 'बुद्ध-चरित' और 'गीता' जैसे ग्रंथों के पद्यानुवादक सर एडविन आर्नोल्ड से उनकी भेंट इसी शाकाहारी सभा के कारण हुई। यहीं उन्हें पहली बार पता चला कि पूर्व और पश्चिम के मानव मात्र एक-से हैं यह कहने से काम नहीं चलता। दोनों के आहार विहार के तरीके अलग-अलग हैं। और राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच रहन सहन, कपड़ा लत्ता, रीति रिवाज, बोलचाल और आचार-व्यवहार के अन्तर भी ऐसे हैं जो पूरी तरह पाटे नहीं जा सकते। राष्ट्र और राष्ट्र को यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि सब सांस्कृतिक दृष्टि से एकाकार हो जायेंगे। बल्कि कुछ अन्तर तो बराबर बने रहेंगे। संस्कृति का मूल ताना और बाना है। सो इसका सबका एक जैसा होना, या यह चाहना कि सब एक ही ढंग के हो जायें, असम्भव है। यहीं सच्ची राष्ट्रीयता

का अर्थ होगा, इन भेदभावों के बावजूद इनसे ऊपर उठकर सबमें समानता खोजना और मानना।

यहीं गांधी जी ने बाइबिल, ईसाइयों का धर्मग्रंथ, पहली बार पढ़ा। 'न्यू टेस्टामेण्ट' में 'गिरि प्रवचन' (समन आन दि माउण्ट) से वे बहुत प्रभावित हुए। शायद उसमें की दस आज्ञाओं में उन्हें 'सत्यं वद, धर्मंचर' जैसे शास्त्र वचनों की प्रतिध्वनि सुनाई दी हो। बौद्ध और जैन पुराण कथाओं में प्रमाद न करने, आत्म-संयम पर और अहिंसा पर बल देने की बात की प्रतिगूंज गांधी जी को उस ग्रंथ में मिली। इसीसे उन्होंने व्यापक जातिवाद, राष्ट्रों के बीच की समस्याओं का समाधान शस्त्रों से अधिक शब्दों में खोजने को प्रेरित किया।

यहीं एक मनोरंजक घटना घटित हुई। एक मेथडिस्ट पादरी जिन्होंने गांधी जी को बाइबिल पढ़ने को दी थी, एक दिन उनसे पूछा, "आप बाइबिल को इतना मानते हैं, तो आप ईसाई क्यों नहीं हो जाते ?" गांधी जी ने मुस्कराकर पादरी जी से कहा, "आप अपनी बाइबिल फिर से ध्यानपूर्वक पढ़िये।" यानी धर्मांतर में गांधी जी का विश्वास नहीं था। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में झगड़े और विग्रह बढ़ने का एक कारण है एक राष्ट्र द्वारा दूसरे पर अपना धर्म लादना—यही तो इतिहास का सबक है। यदि राष्ट्रवाद मध्ययुगीन धर्मांधता का रूप लेता है, तो वह उतना ही खतरनाक साबित होगा।

गांधी जी ने लन्दन जाने से पहले कभी अखबार नहीं पढ़ा था। वहां जाकर वे 'डेली टेलीग्राफ', 'डेली न्यूज,' 'पाल माल गजट' आदि पढ़ने लगे। देश विदेश की खबरें पढ़ने में उन्हें बड़ा मजा आता।

उन दिनों जे० आर० सीली की विचारधारा यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद दुनिया को सभ्य और सुसंस्कृत बना रहा है। इसी विचारधारा से प्रभावित एडवर्ड टी० बुक कई लेख लिखते थे। वे जान रस्किन के भक्त थे। और रस्किन की पुस्तक 'अण्टु दि लास्ट' यहीं उनके पढ़ने में आई, जिसका गुजराती अनुवाद उन्होंने आगे चलकर 'सर्वोदय' नाम से प्रकाशित किया। उन दिनों लन्दन में दादा भाई नौरोजी आये हुए थे, और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कड़े आलोचक थे। नौरोजी के भाषणों के अलावा गांधी जी चार्ल्स ब्रेडला से भी बहुत प्रभावित हुए। ब्रेडला भारत में राजनीतिक सुधारों के पक्षपाती थे। पर इंग्लैण्ड में जो बीज स्वतन्त्र चिन्ता के तरुण गांधी के मन में पड़े, उनका पल्लवन और विकास असल में हुआ दक्षिण अफ्रीका में।

दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी को साम्राज्यवाद के उस रूप के दर्शन हुए, जहाँ एक नस्ल दूसरी नस्ल का शोषण करती थी, जहाँ काली जातियों पर गोरी जातियों का अत्याचार चलता था। सामाजिक न्याय और समता से जहाँ खेतिहर मजदूर वंचित रखे जाते थे। गांधी लन्दन में थियोसॉफी की प्रवर्तिका हेलेना ब्लैवेट्स्की से मिले थे, और मानव मात्र की समानता, धर्मों के प्रति समदर्शिता के विचार गांधी जी में तभी से शुरू हो गये थे, यद्यपि उन्होंने उस थियोसॉफिकल सोसाइटी की सदस्यता छोड़ दी थी। किन कारणों से छोड़ी यह पता नहीं चलता। पर राष्ट्रवाद बनाम मानवतावाद की समस्या गांधी के लिए अफ्रीका में और तीव्र रूप से सामने आई। व वहाँ १८९३ से १९१४ तक बीस वर्ष रहे। यानी जीवन के एक

चतुर्थाश की आरम्भिक तयारी के वप छोडकर अगला चतुर्थाश उनका अफीका म वीता। ट्रान्सवाल और नाताल मे उनके राजनैतिक दशन की नीव पडी। राष्ट्रवाद मे यदि वण श्रेष्ठता का अहकार मिल जाय, तो फिर क्या परिणाम होता है यह गाँधी जी ने बहुत करीब से देखा।

वस्तुत 'मेरी जमीन', 'मेरी भूमि, मेरा वतन' ये सब नारे मनुष्य के स्वत्वाधिकार के आदिम सस्कार से बँधे हुए है। यदि 'दो बीघा जमीन', 'माटीर डाक' जैसी रवीन्द्रनाथ की कविताए या कारन्त के कन्नड उपन्यास 'मरकि मण्णिगे' (गाँवो की ओर) या शरच्च द्र के बँगला 'पल्ली समाज' या कालिन्दीचरण पाणिग्राही के उडिया उपन्यास 'माटीर मणिष' का मूल प्रेरणा-बिन्दु यही है यदि 'नीलदपण' जैसे मिट्टी या ग्राम से सबद्ध कई नाटक लिखे गये तो उन सबका मूल उसी भूमि-प्रेम मे ह। पर तु भूमि प्रेम क्या केवल वित्तषणा जैसा है। भूमि केवल अन्न उपजाती है, आश्रय देती है, मकान बनाने के लिए स्थान देती है और राजाओ सामन्तो को अपना अधिपति बनने देती है, इतना ही उसका महत्त्व है? गाँधी ने देखा कि भूमि केवल भौतिक 'वस्तु' ही नही है। वे भारत मे लौटे १९१५ मे तो गोखले ने उ ह चम्पारण भेजा। वहाँ उन्हे राजे द्र बाबू मिले। निलहे मजदूरो की व्यथा का उन्होने लेखा जोखा लिया। वे जान गये कि प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम केवल स्वाथ से जुडा हुआ नही है। भारतीय सस्कृति मे वनस्पति, ओषधि सबमे दैवी प्राण हैं, हिमालय भी देवतात्मा है नदियाँ लोक-माताएँ हैं, वन की भी अपनी वाणी है—जो कालिदास और रवीन्द्रनाथ ने सुनी

थी—भूमि के कण कण मे केवल 'शस्य श्यामला, सुजला, सुफला' की सुषमा नही बिखरी है, पर मनुष्य का वह उसी तरह का ठोस आधार है, जैसे धर्म। वह धुरा है। वह गोल-गोल चक्कर काटती है सूर्य के आसपास, और अपने आसपास भी। वह एक साथ स्थिर है, अचला है, और गतिमान है, परिवर्तनशीला है।

इसी भूमि के प्रति आसक्ति या उत्कट प्रेम की भावना से राष्ट्रवाद का उदय हुआ। पर प्रेम केवल जमीन-मिट्टी, पत्थर-खनिज, पर्वत नदियो जैसी भौगोलिक इकाई से ही नही होता, उसपर रहने वाले, वही उपजने और मिटने वाले जन साधारण मे भी होता है। और वही राष्ट्रवाद की बुनियाद बनता है। गाधी का अपने देश के प्रति प्रेम, यहाँ से दूर अफ्रीका मे अधिक समय तक रहकर और भी बढा। वह 'गुलामी' शब्द के हिज्जे बखूबी जान गये। सौराष्ट्र के एक ग्रामाचल मे उठकर गाधी फीनिक्स आश्रम के सत्याग्रही बन गये।

उनके मन और चिंतन मे भी अन्तर्राष्ट्रीयता की लहरो ने उद्वेलन पैदा कर दिया। गांधी पर जिन विचारको का असर पडा उनमे टालस्टाय और थौरो प्रधान हैं। दक्षिण अफ्रीका मे उन्होंने टालस्टाय की पुस्तक 'दि किंगडम आफ हेवन इज विदिन यू' (स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है) पढी। और उसी रूप मे महर्षि टालस्टाय ने उनके पास अमेरिका के विचारक शातिवादी हेनरी डेविड थौरो की 'सिविल नाफरमानी' पर पुस्तक भेजी। जिसमे से उन्हे सविनय अवज्ञा और बाद म असहयोग की बडी कल्पनाएँ और परियोजनाएं सूझी। वस्तुत थौरो भारतीय दर्शन से **प्रभावित**

और महायुद्ध और बाद में अधिकाधिक नरसंहार—हिंसा से हिंसा की सरणी - और अन्त में 'दोनों पक्षों का और भी निबल बनना' उत्पन्न होना था। राष्ट्रीयता की भावना देश में जगाने वाले गांधी, सबसे बड़े अन्तर्राष्ट्रीय शांतिवादी बन गए। यह बात देखने में परस्पर-विरोधी, पर वस्तुतः बहुत अर्थपूर्ण थी। यदि मैं अपने राष्ट्र पर किसीका आक्रमण नहीं चाहता तो मुझे भी किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करना चाहिए'—यह नैतिक सूत्र इस भावना के पीछे था।

राष्ट्रीयता के लिए युद्ध और उसके साधनों के प्रति गांधी का रुख इस तरह बदलते रहे। १९०६ में जुलू विद्रोह के समय वे 'स्ट्रेचर साजण्ट' थे। पर जोहान्सबर्ग में शांतिपूर्ण जन आन्दोलन छेड़ने पर उनका रुख बदलता गया। पहले व रजिस्ट्रेशन कानून का विरोध करने इंग्लैण्ड गये। बाद में भी वे भारत के कई प्रश्नों पर राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस या गोलमेज परिषद और तत्कालीन वाइसराय से सीधी बातचीत में विश्वास करते थे। परन्तु वे धीरे धीरे इस नतीजे पर पहुंचे कि लिबरलों की तरह सिर्फ आवेदन पत्र भेजने से, या प्रार्थनापत्रों पर हस्ताक्षर कराने से एक विदेशी हुकूमत से 'स्वराज्य पाना असंभव है। पर राष्ट्रीयता का यह मार्ग—शत्रु से बातचीत का मार्ग—उन्होंने कभी बंद नहीं रखा।

दूसरी ओर, गांधी जी के ही जीवन-काल में, पुराने क्रांतिकारियों, बम बनाने वालों और सशस्त्र विद्रोह से हुकूमत का तख्ता उलट देने में विश्वास करने वालों का बड़ा दल था जो आतंकवादी कहलाते थे। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर प्रदेश से कई बड़े

राष्ट्रभक्त खुदीराम बोस, बारीन दे, रासबिहारी घोष, चाफेकर सावरकर, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद आदि इस प्रकार की विचार-धारा मे विश्वास करते थे। उन्हे शक्ति-पूजा के दर्शन से अनुप्राणित करने वाले अरविंद और तिलक जैसे दार्शनिक भी थे। गीता का अर्थ उनके लिए कर्मयोग था। गांधी उस प्रकार की 'शठ प्रति शाठ्यम्' नीति मे विश्वास नही करते थे। बल्कि कहते थे कि 'शठ प्रति अपि सत्यम्'। वे बुरे साधनो से अच्छे साध्य की पूर्ति असभव मानते थे। कुछ समय के लिए तो लगा कि गांधी भारत मे पुराने नरम दल और नये गरम दल दोनो का विश्वास खो चुके है। और उन्हे अपना रास्ता खुद बनाना है।

राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे विदेशो मे जो प्रयोग हुए थे—फ्रास की राज्य क्राति से रूस की राज्य क्राति तक—वे सब उनके सामने थे। क्या रक्तपात से राष्ट्र सचमुच अधिक ऊर्जस्वल और तेजस्वी बनता है? क्या मार्क्स और लेनिन कहते थे उस प्रकार से क्रिया की प्रतिक्रिया ही इतिहास का अपरिहार्य और अकाट्य तर्क है? क्या लुई चौदहवें या ज़ार के समय के यूरोप के राजाओ-सामन्तो के अत्याचारो से बढ़कर भारत मे ब्रिटिश राज्य के मीठे जहर की तरह छिपे हुए शोषण के और भारतीयो के धीमे परन्तु निश्चित चरित्र वध के प्रयत्न नही थे? फिर भी गांधी ने राष्ट्रीयता के आन्दोलन को केवल बहस-मुबाहसे का वकीलाना, ठडा, ससद-सदनवाला आन्दोलन नही माना। वे लोकतत्र और ग्राम चुनाव और दरिद्रनारायण और जन-साधारण तक उस आन्दोलन को ले गए। और दूसरी ओर वे राष्ट्रीय आन्दोलन को एक रोमाण्टिक क्राति का, गुप्त और अधेरा, तलवार

और बम से बना विस्मय रोमांचकारी विप्लव मार्ग भी कभी नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का, जैसे एक समूह दूसरे समूह को, त्याग और बहिष्कार से झुका सकता है, उसका हृदय परिवर्तन करा सकता है।

यहाँ गांधी जी के राजनैतिक दर्शन के कुछ सिद्धान्तों को जानना जरूरी है। पॉल पावर ने गांधी की 'राष्ट्र' सम्बन्धी विचारधारा का विश्लेषण इन शब्दों में किया है "श्रम या श्रम, पृथ्वी और जीवन का नारी-पक्ष गांधी जी के समाज-दर्शन के तीन प्रधान प्रतीक हैं, (एस० एस० नेहरू के जर्मन लेग डाई सोशियालिडी इन स्टाटे गांधीज) यहाँ नारी तत्त्व से तात्पर्य है करुणा या समन्वय से। कभी-कभी गांधी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग समाज-व्यवस्था के अर्थ में करते थे। वे कभी कभी एक समान इतिहास और नियति वाली जनता की इकाई को राष्ट्र कहते। विन्स्टन चर्चिल जैसे ब्रिटिश भारत में अनेक भाषाओं, धर्मों, पन्थों के कारण कई राष्ट्र देखते थे, पर गांधी सब भारतीयों का एक ही राष्ट्र का अंग मानते थे। उनके निकट राष्ट्रीयता केवल राजनैतिक विचारधारा नहीं, बल्कि भौगोलिक-सांस्कृतिक अभिव्यंजना थी।"

एक ओर उदारमतवादी यूरोपीय राजनीतिज्ञ हैं जो फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के बाद जन-जन के 'स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता' के नारे का प्रधान मानते थे, दूसरी ओर इटली के ग्युसेप मजिनी का अन्तर-राष्ट्रीयता पर आधारित उत्तरदायित्व का सिद्धान्त था। आयरलैण्ड के डी वैलेरा के या जापानी राज भक्तिपूर्ण राष्ट्र-प्रेम से गांधी का सिद्धान्त भिन्न था। एक ही देश में अनेक सांस्कृतिक इकाइयाँ होने

पर भी उनका एक राष्ट्र बन सकता है, यह बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता की कल्पना गाधीजी को पसन्द थी। 'माडन रिव्यू' के अक्टूबर १९५३ के अंक मे एण्टनी एलेनजिट्टम ने 'ग्युसेपे मैजिनी और महात्मा गाधी' के बीच मे तुलना और समानता की चर्चा की है। गांधी ने 'इण्डियन ओपीनियन' के जून २७, १९०८ के अंक में अमेरिका का उदाहरण देकर लिखा था कि वहा भी तो कई तरह के लोग, कई धर्म, वर्ण, भाषाएँ बोलने वाले हैं, जो सयुक्त राष्ट्र बन गये हैं। भारत के लिए यह क्यो सम्भव नही? जब लार्ड बर्कनहेड ने कहा कि भारत राष्ट्र नहीं है, तब 'यंग इण्डिया' मे जुलाई २३, १९२५ के अंक मे गांधी जी ने साग्रह लिखा—"हमारी दृढ धारणा है कि सारे व्यावहारिक मामलो मे भारत एक राष्ट्र है।"

सच्ची बात यह थी कि गांधी जी कभी भी केवल भौतिक जगत् और उसके सैन्य, शस्त्र, सत्ता पर आधारित शक्तिशाली राष्ट्र-तन्त्र मे विश्वास नही करते थे। उनके विचार से ऐसे राष्ट्र का कोई अर्थ नहीं था, जिसका आधार आध्यात्मिक न हो, जिसके पीछे परमात्मा का अधिष्ठान न हो। अन उनके विचार से आदर्श राज्य राम-राज्य ही हो सकता था। वे विकेन्द्रीकरण वाले ग्राम-राज्य में विश्वास करते थे। वे पूर्णत अराजकवाद मे विश्वास नहीं करते थे। टालस्टाय की तरह वे राष्ट्र-हीन अवस्था दुनिया में हो जायगी, ऐसा नहीं मानते थे। कम्युनिस्टो की तरह वे जन जातिया पर आधारित छोटे-छोटे राष्ट्रो की आत्म स्वतन्त्रता वाली बात भी सही नही मानते थे। पी० सी० जोशी से उनका इस सम्बन्ध मे विचार विनिमय प्यारे लाल की 'महात्मा गांधी पूर्णाहुति' ग्रंथ मे विस्तार से दिया

है। वे प्राचीन धर्मराज्य के बदले प्रजाराज्य चाहते थे। वे राजा जैसे किसी एक व्यक्ति संस्था मे विश्वास नही करते थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में १९१६ मे उनके राजाओं की वेशभूषा पर कड़ा भाषण इसका प्रमाण है कि ये उस तरह के ऐश्वर्य प्रदर्शन और सामन्ती वैभव विलास को गलत मानते थे।

गांधी धर्म संस्था और राष्ट्र संस्था के एकीकरण के विरोधी थे। पोप हो या दलाई लामा, गांधी यह मानने से इनकार करते थे कि राष्ट्र का सूत्र किसी धर्म प्रचारक के हाथों में है। या गांधी महाभारत के इस वचन मे विश्वास करते थे—' असाधुरचव पुरुषो लभते शीलम एकदा।" (१२ २५९ ११) हर पापी का भविष्य में संत बनने की आशा है। इस कारण से वे ईसाइयों के इस मत के बहुत निकट थे कि "पाप से घृणा करो, न कि पापी से।' उनके लेखे राष्ट्र जैसी संस्था मे अपने-आप कोई सद्गुण या दुर्गुण नही छिपे है। परन्तु उसके उपयोग पर यह निर्भर करता है कि क्या परिणाम निकलता है। या राष्ट्र भी एक उपकरण मात्र है। मैक्स वेबर के कथन के बहुत करीब गांधी जी का यह मत-विश्वास था कि "राष्ट्र एक तान्त्रिक साधन मात्र है वह अपने आप मे कोई मूल्य या साध्य नहीं।"

टी० एच० ग्रीन आदि पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञ राष्ट्र की नैतिक जिम्मेदारी की बात करते है। पर गांधी जी राष्ट्र संस्था को ऐसी कोई इयत्ता या महत्ता नही देते। गांधी जी जन-साधारण में विश्वास करते हैं जनतन्त्र मे विश्वास करते हैं। और इस कारण से प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे होने पर जोर देते है। वे नही मानते कि राष्ट्र जैसी कोई सत्ता दण्ड के सहारे मनुष्य मात्र को सुधार सकती

है। वे इसी कारण से ग्राम पंचायत से शुरू करना चाहते हैं। छोटी-छोटी इकाइयों से वे अपना आदर्श राज्य बनाते हैं। उनके लेखे सत्य और अहिंसा व्यक्तिमात्र का कर्तव्य और धर्म है। इसीमें से आगे चलकर राष्ट्र बनते हैं, जो अच्छे और बुरे मार्गों का और नीतियों का अनुसरण करते हैं। इसलिए राष्ट्र सुधर सकते हैं, अच्छे या बुरे हो सकते हैं। और यह सब व्यक्ति के सुधार पर निर्भर करता है।

इसी कारण से गांधी जी पश्चिम के पार्टी-सिस्टम पर आधारित संवैधानिक प्रजातन्त्रवाद में बहुत अधिक विश्वास नहीं करते थे। इंग्लैण्ड में कहने के लिए संविधान था, वोट थे, पार्टियाँ थीं—पर फिर भी भारत के प्रति अन्याय बराबर चल रहा था। शोषण के नये नये तरीकों को नये-नये मधुर नाम दिये जाते थे। गांधी जी प्रारम्भ में ब्रिटिश कानून और न्यायप्रियता पर बहुत विश्वास करते थे। पर धीरे-धीरे उनका यह विश्वास कम होता गया। उनका स्वप्न-भंग शुरू हुआ जलियांवाला बाग काण्ड से। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के मिशन तक वह प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। उन्होंने ब्रिटिश पार्लियामेंट को 'हिंद स्वराज्य' में एक वेश्या कहा है और ससत्सदस्या को ढागी और स्वार्थी। इसीलिए स्वराज्य प्राप्ति के बाद कांग्रेस पक्ष के विलयन की सलाह उन्होंने दी थी।

गांधी जी मनुष्य के अन्दर सत्ता के केन्द्रित होने से शुरू होने वाली बुराई से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। मनुष्य या धन के लिए गर्व, पद के लिए अहंकार, शस्त्र शक्ति के कारण मिथ्या अभिमान—धीरे-धीरे अपना प्रभाव फैलाने, जमाने और दूसरों पर रौब गालिब करने की मनुष्य की सहज प्रवृत्ति आदि ने न अच्छों

तरह वाकिफ थे। इसलिए जब एच० जी० वेल्स ने उन्हें मानवाधिकारो की सहिता के बारे मे पूछा तो गांधी जी का उत्तर बहुत भिन्न था—"भाई, अधिकारो की बात मैं क्या जानू, मैंने अपने कर्तव्य पूरे किये हैं ? क्या अपनी पत्नी के प्रति मैंने अपने कर्तव्य पूरे किए है ? आरम्भ मे मैं उसपर अपना स्वामित्व जमाना चाहता था। धीरे-धीरे मेरी समझ मे आ गया कि मैं गलती कर रहा था। स्वामिनी तो वह थी।"

स्वामित्व, गरूर, दूसरो पर अपने विचार लादना आदि बातें वही लोग करते है, जिनमे कुछ कमी होती है। या वह जो हीनग्रंथि से पीडित होते है। गांधी जी के हिसाब से ऐसे लोग दयनीय हैं। हिटलर और मुसोलिनी जैसे विकृत सत्ता-लोभी, साम्राज्य तृष्णा पीडितो के प्रति गाधीजी का भाव ठीक वैसा ही था, जैसा किसी मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का अपराधी के प्रति होता है। जो सत्ता के लिए उन्मत्त हैं उन पागलो से लडने या उनपर गुस्सा करने से क्या फायदा। उनका उपचार यदि कर सकें तो करना चाहिए। यदि वह नही कर सके तो उनपर सिर खपाने और शक्ति नष्ट करने से क्या लाभ। गांधी जी के निकट हिंसा का प्रदर्शन करने वाले ऐसे ही रुग्ण मन वाले तानाशाह या एकछत्र सत्तावाद के पोषक व्यक्ति थे। उनके आदर्श राज्य और उसके नागरिको की अहिंसावृत्ति का ऐसी 'राष्ट्रीयता' से कोई मेल नही हो सकता था।

राष्ट्र सस्था का अधिक से अधिक उपयोग जनकल्याण विभाग की तरह हो, यही गांधी जी की मान्यता थी। इसलिए वे जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे आलोचना भी करते तो उसके पीछे यही

नैतिक आग्रह होता कि कितने अशो में कोई राष्ट्र अपनी जनता के प्रति कर्तव्यों में चूक गया है, या कितने अशो में वह कर्तव्य-तत्पर और सेवा-परायण है। गाधी को यदि इतिहास के किसी कालखण्ड को चुनने के लिए कहा जाता तो शायद वे अशोक या अकबर का समय चुनते जब सब प्रकार के धर्मों को पूरी स्वतन्त्रता थी, और जब कोई बाधा किसी व्यक्ति के विश्वास और पूजा-स्वातन्त्र्य के अधिकार पर नही थी। गाधी जी की राष्ट्रीयता व्यक्ति-स्वतन्त्रता और मानवता के विकास के विरुद्ध नही थी। बल्कि दोनो परस्पर-पोषक और परस्पर-सहायक थे।

गांधी जी राष्ट्रीयता को अपनी शिक्षा-पद्धति का मूलाधार नही बनाना चाहते थे। उनके चौदह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम मे, या प्रार्थना-सभा मे नित्यपाठ किए जाने वाले ग्यारह सूत्रो मे 'स्वदेशी' को भी स्थान था, 'स्वभाषा' को भी स्थान था, 'स्वावलंबन' पर जोर था—पर उन्होने यह कभी नही कहा कि मेरा ही राष्ट्र सबसे श्रेष्ठतर है, और बाकी सब राष्ट्र पिछडे हुए या बुरे हैं। 'हिंद स्वराज्य' में उनकी पश्चिम की आलोचना तीव्र है, वहा वे इतिहासकारो की डीग की पोल उन्होने खोली है। भारत की प्राचीन महानता का भी बखान किया है। पर १६०४ की उस रचना के बाद उनके अंतिम दिनो के लेखो से तुलना करने पर पता चलता है कि राष्ट्रीयता के विषय म उनकी धारणा बराबर बदलती और सुधरती गई। वे अनुभव से और सयाने होते गए। इसी कारण से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से इतनी बडी लडाई लडने पर भी ब्रिटिश जनसाधारण के प्रति उनके मन मे कोई कटुता नही थी।

१९४८ में ब्रिटिशों के भारत छोड़ने के कई वर्षों बाद जब रानी एलिज़ाबेथ भारत में आई, तो गांधी के एक प्रधान शिष्य प्रथम राष्ट्राध्यक्ष राजेन्द्रप्रसाद ने कहा, "ब्रिटिशों ने हम जो तीन चीज़ें दीं उनके लिए हम उनके आभारी हैं उन्होंने हमें अंग्रेजी भाषा दी, जिसके कारण हमारा विश्व के ज्ञान-विज्ञान से सम्पर्क बढा। वह भाषा हमारी अन्तर्राष्ट्रीय खिड़की बनी। उन्होंने हमें एक-सा कानून दिया, न्याय पर आधारित राज्य-शासन दिया। और उन्होंने सबसे बड़ी चीज़ संसद-प्रणाली का प्रजातन्त्र दिया।" गांधी के एक दूसरे पट्ट शिष्य आचार्य विनोबा भावे ने अपनी एक प्रार्थना-सभा में चार वर्ष पूर्व कहा, 'ब्रिटिशों से तीन चीज़ें सीखने लायक थीं एक तो समयसारिता। जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि १५ अगस्त १९४७ को भारत छोड़ना है। तो फिर वह तारीख उन्होंने नहीं बदली। दूसरी चीज़, गत महायुद्ध में यूरोप के और सब देशों में भाव बढ गए पर इग्लैण्ड में भाव ज़रा भी नहीं बढे। बराबर बने रहे—बहुत थोड़ी मूल्य वृद्धि कुछ ही चीज़ों में हुई। तीसरी चीज़, वे व्यावहारिक लोग हैं, व्यर्थ की व्यक्तिपूजा में नहीं पड़ते। महापुरुषों के पुतले बनाकर वे खड़े कर देते हैं। और छुट्टी हुई। जैसे चर्चिल की युद्धमन्त्री के नाते उन्हें जब तक ज़रूरत थी उन्होंने उसे रखा। बाद में छुट्टी कर दी। और फिर उसका दुःख नहीं मनाते रहे।" यह गांधी जी का ही प्रताप था कि इतने जद्दो जहद और संघर्ष के बाद ब्रिटेन के बारे में दो महान गांधीवादी इतनी मधुर बातें, इतने वर्षों बाद कह सके।

संकीर्ण राष्ट्रवाद आदमी को अन्धा बना डालता है। इसके कई

उदाहरण बीसवीं सदी के विश्वइतिहास में हैं। गांधी जी के राष्ट्र-प्रेम में सब राष्ट्रों का प्रेम निहित था। उनके 'जय हिन्द' में 'जय जगत्' छिपा था। वे एरिक फ्राम के इस मत से मानो सहमत थे, "राष्ट्रवाद एक तरह की बुतपरस्ती है, पागलपन है। उसका पन्थ है देशभक्ति। अपने ही देश को सारी मानवता से बढा-चढाकर बताना, सत्य और न्याय से भी बढा-चढाकर बताना वहाँ की देशभक्ति है ? जैसे एक व्यक्ति के प्रति ऐसा प्रेम जो और व्यक्तियों के प्रति अप्रेम पैदा करे सच्चा प्रेम नहीं, उसी प्रकार से एक राष्ट्र के प्रति ऐसा प्रेम जो सारी मानवजाति के प्रति प्रेम का भाग नहीं हो, राष्ट्र-प्रेम नहीं है, पर केवल अन्धश्रद्धा है।"

इसीलिए गांधी के राष्ट्रवाद को समझने में पश्चिमी राष्ट्रवाद की परिभाषाएँ ना-काफी और अपर्याप्त हैं। वह उनका अपना नया, उदार और व्यापक मानवतावाद था, जिसने राष्ट्रवाद की पुरानी कल्पना में एक नया आयाम जोड दिया था, उन्होंने उस पुराने सामूहिक अभिमान में अनुकम्पा और सहानुभूति का ऐसा जोड लगाया कि उसका मूलरूप ही बदल गया। हमारा राष्ट्रगान केवल एक भाषा, एक नेता, एक गुरु का गुणगान नहीं करता, पर वह 'पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविड, उत्कल, बंग ' आदि की स्तुति गाता है। 'एकोऽहम बहु स्याम्' और भेद में अभेद के अचिन्त्य तत्त्व का साक्षात्कार यहाँ है। वह राष्ट्रवाद यांत्रिक, जड एकरूपता का हामी नहीं, वह अनेक विचारधाराओं, नानामतों और बहु मापियों का एक समन्वय है। एक सामासिक संस्कृति का, एक विविधता में अर्न्वर्ति का, एक 'ऐई भारतेर महामानवेर सागरतीरे' तीर्थयात्रा

है, जिसमे रवीन्द्र के शब्दो मे :

"एशो हे आर्य, एशो अनार्य, हिन्दू, मुसलमान।
एशो एशो आज तुमि इंगराज, एशो एशो ख्रिष्टान॥"

गांधी का जीवन और उनका कार्य इस तीर्थयात्रा का उत्तम उदाहरण था।

अध्याय २

विश्व-शान्ति

दुनिया के आगे एक सबसे बड़ा सवाल है—तीसरे महायुद्ध का खतरा।

गांधी युद्ध-मात्र के विरोधी थे। जो लोग जर्मन दार्शनिक नीट्शे की तरह मानते हैं कि मनुष्य जन्म से ही हिंसक प्राणी है और युद्ध कभी समाप्त नहीं हो सकते, उनकी बात गांधी जी सही नहीं मानते थे। बर्नार्ड शॉ ने यही कहा था कि यदि दुनिया में पूरा नि:शस्त्रीकरण भी हो जाय तो भी लोग नख और दांतों से एक दूसरे से लड़ेंगे। मानवता का ऐसा निराशावादी भविष्य गांधी जी नहीं मानते थे। परन्तु इस विषय में भी गांधी जी पश्चिम के शांति-वादियों से कुछ मात्रा में भिन्न थे। गांधी जी शान्ति से भी बढ़कर सत्य को मानते थे, जबकि पश्चिम के शांतिवादी किसी भी शर्त पर शान्ति चाहते हैं। बर्ट्रेण्ड रसेल 'मर जाने की अपेक्षा साम्यवादी बनना अच्छा है' (इट इज बटर टु बी रेड दैन टु बी डेड) मानते हैं। गांधी जी ऐसे समझौतों में कभी विश्वास नहीं करते थे।

संसार में युद्ध क्यों होते हैं? एक विचारधारा जो ऊपर लक्षित की है, मनुष्य को जन्मना लड़ाकू प्राणी मानती है। हिंसा जैसे

उसमे कूट कूटकर भरी है, और उसका सुधार आमरण असभव है। ऐसी विचारधाराओ से गांधी का मतभेद है। गांधी मनुष्य के हिंसक स्वभाव को एक प्रकार का ऊपर से थोपा गया या बुखार की तरह क्षणिक विकार मात्र मानते हैं। और उससे मनुष्य की पूण मुक्ति की सम्भावना भी देखते हैं। इसलिए युद्ध एक अनिवाय बुराई है ऐसा गाधी जी नही मानते।

युद्ध का दूसरा कारण प्राचीनकाल मे और हिटलर के 'लेबेंसराउम' (अधिक भूमि) तक, जमीन की हविस है। साम्राज्य विस्तार या अधिक मडिया और मार्केटो को प्राप्त करना भी युद्ध का एक उद्देश्य रहा है। कुछ अथशास्त्रियो का मत रहा है कि मनुष्य की भौतिक तृष्णा का अन्त नही है। और इस लोभी प्राणी का कभी सुधार नही हो सकता। गाधी जी मनुष्य को केवल आवश्यकताओ की गठरी नही मानते। भौतिक एषणाओ के समान मनुष्य मे एक सत्प्रवृत्ति या श्रेय की ओर बढने की इच्छा भी सदा विद्यमान है, ऐसा वे मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य मे परमात्मा का अश होता है, इस श्रद्धा मे से ही यह बात उपजती है कि मनुष्य मनुष्यजाति को पूणत विनष्ट करना नही चाहता।

युद्ध का मूल कारण ही दूर कर देने से विश्व मे शांति हो जायेगी ऐसा नही माना जा सकता, यह तीसरा तर्क प्रस्तुत किया जाता है। हम चाहे बहुत शांतिवादी और अहिंसक हो, पर हमारे पडोसी न हो तो? पडोसी राष्ट्रो की सनिक तयारी का असर शांतिप्रिय राष्ट्रो पर भी पड सकता है। और सुरक्षा के लिए उसे सनिक तैयारी और शस्त्र-सिद्धता अपनानी पड सकती है। इस

सम्बन्ध में गांधी जी ने नीति शास्त्र में स्वकर्तव्य पर अधिक जोर है, दूसरों के अच्छे या बुरे होने का या उसकी प्रतिक्रिया से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दार्शनिक काण्ट की 'कैटेगोरिकल इम्परेटिव' (निरपेक्ष आदेश) की तरह गांधी मनुष्य मात्र में सद्-सद्विवेक का ऐसा एक अंकुश अपरिहार्य मानते हैं। और उसीपर विश्व शान्ति की सारी सफलता निर्भर है, ऐसा मानते हैं।

फिर भी राष्ट्रों में तनाव बढ़ते हैं। विग्रह और संघर्ष होते हैं, छोटे बड़े युद्ध होते ही रहते हैं, इन्हें कैसे मिटाया जाय? गांधी का विश्वास था कि हर झगड़े का समाधान शस्त्र-बल से ही हो, यह जरूरी नहीं। दो पक्षों के बीच मतभेद एक तीसरे पंच को भी सौंपा जा सकता है। बड़े राजनीतिज्ञों के बीच में बातचीत हो सकती है। कुछ ऐसी संस्थाएँ और साधन प्रयोग में लाये जा सकते हैं जिनसे यह मतभेद कम हों। नि:शस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति दल, विश्व के लिए एक राज्य आदि बातों में गांधी जी विश्वास रखते थे। सैनिक कारवाई के बदले वे सत्याग्रह की महत्ता मानते थे। सत्याग्रह को वे सर्वव्यापी सिद्धान्त मानते थे। घर से लगाकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक वे उसकी महत्ता मानते थे।

युद्ध के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार तीन स्तरों पर मिलते हैं एक तो सम्पूर्ण शान्तिवाद (युद्धमात्र का निषेध), दूसरे कुछ शर्तों के साथ शान्तिवाद (यानी कहीं-कहीं अपवाद रूप में अनिवार्य हिंसा भी समर्थनीय) और तीसरे, राष्ट्रभक्ति के यथार्थ को देखते हुए जनता में विक्षोभ या अशान्ति पैदा करने की उपयोगिता का तर्क। जहाँ तक सम्पूर्ण और विशाल शान्तिवाद का सम्बन्ध है, गांधी जो

१६०६ से १६१४ तक पश्चिम में युद्धोन्माद का घोर विरोध करते रहे। उनका विश्वास था कि युद्ध का मूल भौतिकवादी पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्य तृष्णा और आर्थिक हविस मात्र है। यही बात पहले महायुद्ध के बाद पश्चिम के जनतन्त्रात्मक राज्यों की निन्दा में और दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ में गांधी जी के युद्ध-विरोधी लेखों में दिखाई देती है। अणु युद्ध का विरोध भी गांधी जी इसी हेतु से करते थे। इस प्रकार का उनका परम शांतिवाद व्यापक आदर्शवाद पर आधारित है।

✓ परन्तु कुछ प्रसंगों और घटनाओं में गांधी जी ने हिंसा की आंशिक उपयोगिता को जीवन में और विचारों में स्वीकार माना। साबरमती आश्रम में बीमार बछड़े को गोली मारने के प्रसंग में, या अपने पेट की शल्यक्रिया के अवसर पर या १६०४-१६०५ में रूस के विरुद्ध जापान के समर्थन में या फासिस्तवाद के विरोध में जनता के विद्रोह के पक्ष में इत्यादि कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। मानो गांधी जी यह मानते थे कि ऐसा कभी हो सकता है कि कायरता की अपेक्षा हिंसा अधिक समर्थनीय हो। शांति का अर्थ उनके निकट नपुंसकता नहीं था। निर्भय की अहिंसा ही कुछ मानी रख सकती है। इसलिए शांति का 'वाद' बनाने में वे मनुष्य-स्वभाव की दूसरी सापेक्षिक सम्भावनाओं से आंखें मूंदकर नहीं चलना चाहते थे।

इसी बात में से राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार आत्मरक्षार्थ युद्ध का तात्विक समर्थन गांधी जी के लेखों में मिलता है प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश सेनाओं की सहायता १६२० में भारत की सुरक्षा का प्रश्न, १६४२ में फासिज्म का विरोध, कश्मीर में सेनाओं के भेजने को

आशीर्वाद आदि कुछ उदाहरण हैं। यानी वे शांतिवाद को कोई पूर्वाग्रह या कट्टर मतवाद नहीं बना देना चाहते थे। वे उसमें यह सम्भावना देखते थे कि मनुष्य-स्वभाव के अनुसार कुछ परिवर्तन उस सैद्धांतिक या ऐकांतिक स्थिति में घटित हो सकता है।

गांधी जी का शांति सम्बन्धी यह विचार-परिवर्तन काल-क्रमानुसार देखें तो १९०४-१९०५ में उन्होंने अपने पत्र में आक्रामक रूस के विरोध में न्यायसंगत जापान को पूरी सहायता देने की बात लिखी। उनके अनुसार जापान ने अपने चरित्र बल से संसार में इतना बड़ा स्थान बनाया था। पश्चिम के विरोध में नये एशिया का जापान प्रतीक बना। यह 'इण्डियन ओपीनियन' में गांधी जी के विचार उस समय ब्रिटेन के जापान समर्थक विचारों से सुसंगत थे। कुछ लोगों का यह मत है कि गांधी के उन विचारों पर उस पत्र के प्रकाशक के मत और नीति का भी प्रभाव था। उसी 'इण्डियन ओपीनियन' ने १९०६ में जुलू विद्रोह को दबाने में ब्रिटिश सेना का साथ देने के लिए भारतीयों को अपील की। इस प्रकार वह भारतीयों के प्रति ब्रिटिशों के विचार बदलने की भी आशा करते थे। परन्तु यह बात अधिक दिन नहीं टिकी। १९०९ में उन्होंने लिखा कि "भारत में ब्रिटिश सरकार प्राचीन सभ्यता, जो परमात्मा का राज्य है, उसके विरुद्ध आधुनिक सभ्यता या शैतान के राज्य की प्रतिनिधि है। एक प्रेम का भगवान है, दूसरा युद्ध का देवता।"

१९१४ में लंदन में आने पर ब्रिटिशों को गांधी ने अपनी सेवाएँ अर्पित की। भारतवासियों को उन्होंने बताया कि इस युद्ध में ब्रिटेन का साथ देना भारतीयों के हक में है। रंगरूट भरती में भी

उन्होंने मदद दी। पर १६१८ मे प्रथम युद्ध की समाप्ति और १६१६ के माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के बाद, रौलट बिल आदि के द्वारा जनता के नागरिक अधिकारो पर जो ब्रिटिशो ने नियन्त्रण लगाए, उनके कारण गाधी जी का रुख बदला। अब वे अपने आंशिक युद्ध समर्थन के पुराने काय को केवल एक राजनैतिक साधन कहते हैं। वे अब मानने लगे कि मनुष्य को अहिंसावादी और शांतिवादी होना ही चाहिए, परन्तु कभी-कभी अनिवार्य हिंसा से वह बच नही पाता। "ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्य को युद्ध मे भाग लेना पड़े और साथ ही साथ वह युद्ध की व्यर्थता मे, अपने राष्ट्र और दुनिया को युद्ध से बचाने मे भी विश्वास करे।"

'हरिजन' मे १५-१०-१६३८ को उन्होंने लिखा कि, 'युद्ध का शास्त्र विशुद्ध तानाशाही की ओर हमें ले जाता है। अहिंसा का शास्त्र ही शुद्ध लोकतन्त्र की ओर हमे ले जा सकता है। इग्लैड, फ्रास और अमेरिका को अपना चुनाव करना है। दो तानाशाहो की चुनौती सामने है। अभी रूस चित्र मे नही है। रूस मे एक ऐसा तानाशाह है जो समझता है कि रक्त के समुद्र मे से जाकर अपने शान्ति के आदर्श तक पहुँचा जा सकेगा। कोई नही कह सकता कि भविष्य मे रूसी तानाशाही का दुनिया के लिए क्या अर्थ होगा ?"

हरिजन' मे एडगर स्नो के साथ एक भेंट वार्ता मे गाधी जी ने १६-७-१६४२ को कहा था प्रश्न 'क्या आप भारत की स्वतन्त्रता इसलिए चाहते हैं कि मित्र शक्तियो की सहायता करें? भारत स्वतन्त्र होने पर सारे देश मे सैनिक भर्ती शुरू करा देगा और क्या सपूर्ण युद्ध की पद्धतियो को अपनायेगा ?"

गांधी जी का उत्तर "प्रश्न स्वाभाविक है पर मेरे पास उसका पूरा जवाब नही। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि स्वतंत्र भारत मित्र राष्ट्रो के साथ समान नीति रखेगा। मैं नही कह सकता कि स्वतंत्र भारत फौजीशाही मे भाग लेगा या अपने अहिंसक मार्ग मे जायेगा। पर मैं बिना किसी झिझक के कह सकता हूँ कि यदि मैं भारत को अहिंसा की ओर मोड सका तो जरूर ऐसा करूंगा। यदि मैं चालीस करोड लोगो को अहिंसक बना सका तो यह एक जबरदस्त बडी बात होगी, एक आश्चर्यजनक हृदय-परिवर्तन होगा।"

श्री स्नो ने तर्क करते हुए पूछा, "फौजी प्रयत्नो का विरोध आप सविनय अवज्ञा आन्दोलन से तो नही करेंगे?"

"मेरी वैसी कोई इच्छा नही। मैं स्वतंत्र भारत की इच्छा का विरोध सविनय अवज्ञा आन्दोलन से नही करूंगा। वह गलत होगा।"

९ और इसी तरह युद्ध-सम्बन्धी गांधी जी के विचार 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के २० जुलाई, १९४४ के अंक में व्यक्त हुए हैं, "मैं अपने आलोचको से कहूँगा कि वे मेरे साथ दुख सहन करें। सिर्फ भारतवासी ही नही, सारी दुनिया के लोग, जो युद्ध मे शरीक हो या न हों, वे मेरे साथ रहें, सोचें। दुनिया मे यह नर-संहार जो चल रहा है, उसको ओर उपेक्षा से मैं कब तक देखू? मेरे भीतर एक अपरिवर्तनीय श्रद्धा है कि एक-दूसरे को मारना, हत्या करना यह मनुष्य के सम्मान से नीचे की, हलकी बात है। मुझे पूरा विश्वास है कि कोई न कोई राह इसमे से जरूर निकल सकती है।'

१० इस प्रकार से, गांधी जी का विश्वशान्ति का विश्वास

अहिंसा से शुरू होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहे, तो विग्रह क्या हो ?

० परन्तु समाज मे सब व्यक्ति ऐसे सन्त या शान्तिप्रिय अहिंसक नही हो तो ?

तो, समाज को बदलना होगा। और उसका यही उपाय है कि उस अशान्ति मचाने वाले व्यक्ति, समूह, जाति या राष्ट्र के प्रति असहयोग और बहिष्कार का अस्त्र काम मे लाना होगा। अशान्ति मे से युद्ध इसलिए पनपते हैं कि उन्हे जनसाधारण की भयभावना से पोषण मिलता है। गांधी जी जनसाधारण को निर्भय बनाना चाहते थे। जो निर्भय होगा, उसके मन मे किसीके शक्ति प्रदर्शन से विचलित होने का प्रश्न ही नही उठेगा। यह निर्भयता पुन उनकी आस्तिकता या अखण्ड ईश्वरीय सत्ता के विश्वास म से उपजती है। अत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'एकला चलो रे !' और 'निर्बल के बल राम !' उनके प्रिय भजन थे, जिनका प्रार्थना-सभा मे पाठ होता था।

गांधी जी के विश्व शान्ति के आदर्श की परीक्षा गत महायुद्ध के प्रारम्भ मे हुई। एक ओर उन्हे लगता था कि तानाशाही और फासिस्तवाद का विरोध तो होना चाहिए, दूसरी ओर वे ब्रिटिशो से युद्ध-प्रयत्नो की सहायता भी नही करना चाहते थे। 'युद्ध हमारे धर्म-विरुद्ध' कहने की स्वतन्त्रता वे हर भारतीय के लिए आवश्यक समझते थे। यही वाक् स्वातन्त्र्य उन्होने कसौटी पर लगाया। और व्यक्तिगत सत्याग्रह मे हजारो पदयात्रियो ने स्वेच्छा से जेल जाना स्वीकार किया। यह आन्दोलन जब शुरू हुआ था, तब इन पंक्तियो

के लेखक को सेवाग्राम मे उनकी कुटी के बहुत निकट रहने का, आश्रम जीवन का एक अग बनकर सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला था। आश्रम मे उन दिनो देश-देश के पत्रकार और सवाददाता आते और गांधी जी से कई तरह के प्रश्न पूछते। विशेषत अमरीकी पत्रकार। उन्हे लगता था कि गांधी जी की सम्पूर्ण अहिंसा और उस समय ब्रिटिश के सकटकाल में उनकी मदद न करने म कोई मूलभूत विरोध था। उसी समय भारत के साम्यवादी दल, मानवेन्द्रनाथ राय के रैडिकल डेमोक्रैटिक (बाद मे रैडिकल ह्युमॅनिस्ट) दल आदि ने फासिस्तवाद विरोधी रुख अपनाया। और पक्षधर बनने का, प्रतिबद्ध होने का मार्क्सवादी नारा लोगो को दिया कि यह युद्ध जनयुद्ध है। गांधी ने कहा कि युद्ध-मात्र ही जन-विरोधी होता है। अत यह एक 'वदतो व्याघात' का उदाहरण है। गांधी ने कारावास ग्रहण किया, 'करो या मरो' की पुकार की गई। अगस्त क्रान्ति हुई। नेता विहीन देश ने हिंसा से परहेज नही किया। यह सब कहानी सर्वविदित है। पर युद्ध के आरम्भ मे गांधी की 'हरिजन' मे की हुई भविष्यवाणी सच निकली। युद्ध से विश्वशान्ति बढ़ी नही, बल्कि मानवता कुछ पीछे ही हट गई। नैतिक दृष्टि से उसका विकास नहीं हुआ। बल्कि 'अणुबम' जैसे सहारक शस्त्र की निर्मिति और व्यापक नरसहार मे उसके उपयोग ने मानवता के नाम पर एक कलक ही लगाया।

१९४६ मे दिल्ली के पुराने किले मे बुलाये गये एशियाई सास्कृतिक सम्मेलन मे गांधी जी ने कहा कि "पश्चिम हमसे कुछ पाने के लिए तरस रहा है। उसका भौतिकवाद और विज्ञान की खोज उसे

अणुबम तक ले गया है। पर एशिया, जहाँ से सारे धर्म निकले, उसे शान्ति का संदेश नहीं देगा तो क्या देगा ?"

गांधी जी जानते थे कि विश्व की अनसुलझी समस्याओं में युद्ध एक प्रधान समस्या है। वे सीधे और अप्रत्यक्ष आक्रमण के अन्याय को जानते थे। 'क्रिश्चियन सेंचुरी' पत्र ने गांधी को विश्वशान्ति का नोबल पुरस्कार देने का सुझाव १९३४ में रखा था। पर लगता है कि तब पश्चिमी दुनिया के शांतिवादियों ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। नवम्बर २१, १९५५ के 'क्रिश्चियन सेंचरी' पत्र में गांधी जी का एक मत दिया गया है कि दुनिया में सोवियत-अमरीकी विचार-विरोधों के दो ध्रुवों में यदि विकेन्द्रीकरण को अपनाया जाय, तो तीसरा रास्ता निकल सकता है। सत्ता, वित्त और क़ानून जैसी शक्तियाँ विश्व के राष्ट्रों के बीच में जैसे विग्रह पैदा करती है, वैसे ही उन राष्ट्रों को निकटतम लाने में भी बहुत सहायक हो सकती है, उनका स्वरूप अब इतना उलझा हुआ और परस्परावलम्बित है कि इसका विचार गांधी जी ने नहीं किया था। उनकी मनुष्य की और राष्ट्रीय हितों की कल्पना काफी हद तक अधिक आदर्शवादी थी। उसमें मनुष्य से अत्यधिक आशा की जाती रही।

आज भी विश्व शांति के लिए एक बहुत बड़ा खतरा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद है। जो शस्त्र-सन्नद्ध होकर चीन जैसी विस्तारवादी मुद्रा ग्रहण करता है। गांधी जी का साम्यवाद के सम्बन्ध में क्या रुख था और साम्यवादी उन्हें क्या-क्या समझते रहे, यह दर्शनीय है। गांधी जी ने गत महायुद्ध के समय जेल-यात्रा में कार्ल मार्क्स के 'डास कपीटल' और एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन आदि की कुछ किताबें

सौ—२

पड़ी। परंतु मार्क्सवादी पार्टियों के भारत में और भारत के बाहर के कारनामों से वे बिल्कुल अनभिज्ञ रहे हों, ऐसा नहीं माना जा सकता। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी कभी उन्हें ग्रामीण प्रतिक्रियावादी, कभी पूंजीवादियों का एजेण्ट और बाद में महान राष्ट्रीय नेता कहती रही।

गांधी जी १९१७ वाली रूस की अक्टूबर क्रान्ति के बाद कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति दो-तीन तरह के रुख रखते रहे। एक तो उस साम्यवाद से भारत को कोई खतरा नहीं है। दूसरे, सोवियत कम्युनिज्म के बारे में हम बहुत कम जानते हैं, तीसरे, कम्युनिज्म में निहित हिंसा, नास्तिकता और वर्ग युद्ध के सिद्धांत का विरोध। १९२४ में गांधी जी को सोवियत रूस से निमंत्रण मिला था, वे यहां के स्वतंत्रता आंदोलन की सहायता करना चाहते थे। परन्तु गांधीजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। 'यंग इण्डिया' में उन्होंने लिखा "मुझे किसी भी प्रकार के हिंसक उद्देश्य के लिए उपयोग में लाना असफल होगा।" १९२८ में गांधी जी ने कहा, 'मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे बोल्शेविज्म का पूरा अर्थ समझने में नहीं आया है। मुझे बताया गया है कि यह वाद वैयक्तिक सम्पत्ति का नाश चाहता है। अपरिग्रह के नैतिक आदर्श का अर्थनीति के क्षेत्र में प्रयोग ही शायद यह विचारधारा थी। यदि यही काम शान्तिपूर्ण तरीकों से किया जाए तो यह आदर्श बात होगी, परंतु जहां तक मैं जानता हूं बोल्शेविक विचारधारा हिंसा-शक्ति से परहेज नहीं करती। उलटे वैयक्तिक सम्पत्ति के विनाश की पूरी अनुमति देती है। यदि यह सच है तो ऐसा बोल्शेविक राज अधिक समय तक नहीं चल सकेगा। मेरा

दृढ विश्वास है कि हिंसा पर आधारित कोई भी चीज चिरस्थायी नहीं हो सकती। परन्तु इस विचारधारा के पीछे लेनिन जैसी महान् आत्माओं और अनेक नर-नारियों का त्याग और बलिदान है और वह व्यर्थ नहीं जाता।"

एक वर्ष बाद गाँधी पर यह आरोप लगाया गया कि वे उस साम्राज्यवाद विरोधी संघ के सदस्य हैं, जिसका कम्युनिस्टों ने नेतृत्व किया था। रोम्यां रोलां, जार्ज लन्सबेरी, अलबर्ट आइन्स्टाइन, मादाम सुन्यातसेन आदि इस संघ के विरोधी थे और उन्होंने गांधी जी पर यह आरोप लगाया। गांधी जी नहीं जानते थे कि इस संघ का मूल सूत्र संचालन मास्को से चलता है। नेहरू भी इस संघ के सदस्य थे, १९३० तक। बाद में उन्हें इस 'लीग एगन्स्ट इम्पीरियलिज्म' ने अपनी सदस्यता से वंचित कर दिया (नेहरू जी की 'बंच आफ ओल्ड लेटर्स' पृ० ११४ तथा ब्रेचेर की जीवनी के पृष्ठ ११३ ११५)। १९३० के बाद तक गांधी जी साम्यवाद की ओर एक अद्भुत रम्य दृष्टि से देखते थे। अपने आपको वे अहिंसक साम्यवादी मानते थे।

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ में गांधी जी कम्युनिस्ट कूटनीतिज्ञता से आगाह हुए। १९३८ में हिटलर और पश्चिम के जनतन्त्रों के बीच म्युनिख समझौते पर लिखते हुए गांधी ने सोवियत रूस के बारे में लिखा कि "यहां का तानाशाह रक्त के समुद्र में चलकर शांति का सपना देखता है।" युद्ध शुरू होने पर एक वर्ष बाद अगस्त २३, १९३९ को जर्मन सोवियत संधि को और पोलैण्ड या दोनों राष्ट्रों के आक्रमणों को उन्होंने 'दुखद' बतलाया। फिर भी उन्हें कुछ आशा

थी। जून १९४१ के बाद सोवियत जर्मन संधि टूटने पर गांधी को अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद उतना ही आक्षेपाह लगा जितना नाज़ीवाद। १९४४ मे गांधी जी ने भारतीय साम्यवादी दल के मंत्री के साथ हुई चर्चा मे रूस के अवसरवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोध विस्मरण प्रश्न पर गांधी जी को लगी ठेस उ होने व्यक्त की है। "भारत जब गुलाम है तब गुलाम जनता का कैसा युद्ध ?" गांधी ने पूछा। गांधी जी भारतीय साम्यवादी दल से, इस प्रकार से, दूर हटते गये। और अपने जीवन के अंत तक वे उसे क्षमा न कर सके। १९४६ मे उन्होंने यहा तक लिखा कि भारतीय साम्यवादी "अच्छे-बुरे, सत्य असत्य के बीच मे कोई भेद-भाव नही करते।" फिर भी व्यक्तिगत रूप से उन्होंने साम्यवादियों के हृदय परिवतन मे विश्वास नही छोड़ा। गांधी जी ने इटली की फासिस्टवाद और जर्मनी के नाज़ीवाद की जिन कारणो से बुराई की, ठीक वही दोष उन्हें साम्यवाद मे भी दिखाई दिये।

✓ विश्वशांति के लिए गांधी जी जिन उपायो को मानते थे वे—

(१) व्यक्तिगत हृदय-परिवर्तन और सत्याग्रह,

(२) पंच फैसले से निर्णय,

(३) कानूनी उपायो से संधियाँ आदि,

(४) लीग आफ नेशंस या संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाएं,

(५) विश्व के एक राज्य की कल्पना,

(६) निःशस्त्रीकरण

(७) शांति दल की स्थापना।

अटलांटिक चार्टर के बाद जब विंस्टन चर्चिल ने

पलियामेंट मे सितम्बर १९४१ मे कहा कि यह सन्धि-पत्र भारत पर लागू नही होगा, तो गाधी जी ने कहा कि "रूजवेल्ट और चर्चिल के हस्ताक्षर के बाद ही यह घोषणा समुद्र मे डूब गई।'

१९३८ और १९४२ मे गाधी जी ने विश्व के एक राज्य की कल्पना को अपना समथन दिया। काग्रेस को भी उसके समर्थन के लिए कहा। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सघो के प्रति वे शकालु थे, अत गांधी भी बहुत समय तक यही मानते थे कि शक्ति से उन्मत्त 'राष्ट्र' कभी सुधर ही नही सकेंगे। और उनका कैसा सघ सभव है ? इसी कारण से १९२५ म मौरिशस से लौटते हुए भारतीयो ने जब गांधी जी से कहा कि फ्रास की फौजी कारवाई के खिलाफ लीग आफ नेशन्स मे अपील करें तो गांधी ने मना कर दिया। वे ऐसी अपील को पर्याप्त नैतिक बल-भरी नही मानते थे। १९३१ मे जेनेवा मे लीग के केन्द्र मे जाकर गांधी ने सत्याग्रह को अपनाने का उन्हे उपदेश दिया। चार वष बाद इटली अबीसीनिया सघर्ष म लीग से गांधी जी ने अपील की कि इटली के विरुद्ध विशेष कारवाई वह न करे। गाधी जी लीग के बायकाट को नही समझ सके। सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण की सैन फ्रासिस्को की सभा के समय भी गांधी जी ने निराशा ही व्यक्त की। उनके विचार से विश्व सुरक्षा न वहा राष्ट्र अपने परस्पर अविश्वास और युद्ध के भय को व्यक्त कर रहे थे।

गाधी विश्वशांति के पहले एक प्रकार की परस्पर आस्था और श्रद्धा के वातावरण को महत्वपूर्ण बात की तरह मानते थे। इसलिए छोटे-छोटे तटस्थ और निष्पक्ष राष्ट्रो मे उन्हे बहुत आशा थी।

१९४६ म जाज कैटलिन से बातचीत के सिलसिले मे विश्व के

सभी राष्ट्रों की एक सम्मिलित आरक्षी-टुकड़ी (वर्ल्ड पुलिस फार्स) में गांधी जी का विश्वास व्यक्त हुआ है। वे मूलतः पूर्व और पश्चिम के युद्ध और शांति-सम्बन्धी विचारों में बड़ा अन्तर देखते थे। और दोनों के बीच एक भावी समन्वय की आशा भी करते थे।

\ ) गांधी जी सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण में विश्वास करते थे। उनके विचार से शस्त्रों के बदले और मारक शस्त्रों का प्रयोग और अणु-बम का उत्तर उद्रजन बम कभी नहीं हो सकता था। इस प्रकार से हिंसा की सरणी अनन्त बनी रहती है। और समाधान कोई नहीं निकलता। युद्ध का पर्याय गांधी जी के लिये केवल सत्याग्रह है। धीरे-धीरे विश्व इस बात को मानने लगा है। जैसे कि अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग ने बस सत्याग्रह में अपनी मांगें मनवाने में, या अन्यत्र भी कई मामलों का तृतीय पक्ष के अधीन करने या उसके निर्णय को मानने पर राजी होकर किया गया। हाल में ताशकन्द समझौता इसी प्रकार का एक यत्न था।

इतिहास का साक्ष्य है कि बुद्ध और अंगुलिमाल, अशोक के कलिंग-विजय के बाद हृदयपरिवर्तन, टेलीमेकस के रोमन सर्कसों में पशुओं द्वारा मानव-वध का बन्द करने के वैयक्तिक सत्याग्रह और ईसा द्वारा समस्त अनुयायियों के पापों को अपने ऊपर ले लेना—ये और ऐसे उदाहरण त्याग और बलिदान द्वारा प्रतिपक्ष के हृदय-परिवर्तन को उजागर करते हैं। मध्ययुग में ऐसे कई सन्त सूली चढ़ गये, और ऐसे कई सन्तों ने अन्याय सहन किये। पर गांधी की विशेषता इस बात में है कि जो वैयक्तिक आधार पर अहिंसा के विजय के प्रयोग पहले हुए, उन्हें गांधी ने सामूहिक रूप दिया। एक की

सच्चाई को अनेकों की सच्चाई में परिणित कर दिया।

होरेस ने कहा था, "ससार की माताएँ युद्ध मात्र से घृणा करती हैं।" गाँधी ने उसी करुणा और मानव मानव के बीच स्नेह सहानुभूति के प्राथमिक सहज पर इस युग में विस्मृत गुण पर बल दिया। यदि विश्व में भविष्य में कभी युद्ध समाप्त होकर सम्पूर्ण शांति निर्मित होगी तो उसके निर्माताओं की श्रेय नामावलि में गाधी का नाम सर्वप्रथम होगा।

युद्ध प्रचण्ड परिमाण पर मानवी शक्तियों का ध्वस-मात्र है—द्रव्य का, सभ्यता का, मानवीय गुणों का। हिंसा पर आधारित सारे दर्शन मनुष्य को सामान्य, स्वाभाविक, सहज रूप में नहीं देखते। वे उसमें अमर्ष, क्रोध, असूया, द्वेष, घृणा और तिरस्कार की क्षुद्र भावनाओं को ही उभाड़ने में व्यस्त रहते हैं। ससार के युद्धों से कितना नुकसान हुआ है इसका एक छोटा सा मानचित्र नीचे दिया जा रहा है। गत महायुद्ध के आरम्भ में, १९३९ में मैंने एक लेख किसी पत्रिका में लिखा था, उसमें मैंने ये आकड़े जमा किये थे। उसमें ससार के महायुद्धों से होने वाले नुकसान की कहानी या दी थी

ईसापूर्व १४९६ से १९३० ईस्वी तक यानी करीब साढे तीन हजार बरसों में केवल २८७ वर्ष शान्ति के बीते, ३११२ वर्ष युद्ध से अभिशप्त रहे। बुखारेस्ट युनिवर्सिटी के प्रो० पेला के अनुसार १५०० ईसापूर्व से १८६० ईस्वी तक करीब आठ हजार ऐसी सधिया हुई जो जब वे की जाती तब अक्षय और अपरिवर्तनीय मानी जाती थी, मगर सचमुच में उन सबकी औसत आयु दो वर्ष से अधिक न थी। १९१८ से अब तक यूरोप में १७०० बडी-बडी लडाइयाँ हुई, जिनमें

सर्वाधिक फ्रांस में, फिर आस्ट्रिया और हंगरी में और फिर ग्रेटब्रिटन और प्रशिया इस क्रम से युद्धमान राष्ट्र रहे। इस काल के बीच फ्रांस अकेला तिहत्तर वर्षों तक ग्रेटब्रिटेन में लड़ता रहा, अस्सी बरस तक प्रशिया और जर्मनी के साम्राज्य में और स्पेन से बासठ वर्ष। सबसे लम्बी लड़ाई यूरोप और इंग्लैंड के बीच १३३७ में सौ वर्षों का युद्ध नाम से प्रसिद्ध है, सबसे छोटी लड़ाई १८४६ में आस्ट्रिया और सार्डीनिया के बीच छह दिन का था।

बारहवीं-तेरहवीं सदी में रूस, १४वीं सदी में इंग्लंड, १५वीं से १८वीं सदी तक आस्ट्रिया (होली रोमन एम्पायर), १६वीं सदी में फ्रांस और २०वीं में जर्मनी सर्वाधिक लड़ता रहा। और ये हैं कुछ तथ्य केवल यूरोप के।

१६१८-४८ में लड़ी गई तीस बरस की लड़ाई में सिर्फ १५००० आदमी थे। १८वीं सदी में ४०,००० आदमी लड़ाई में निमग्न थे। नेपोलियन के किये गये युद्धों में ८०,००० और रूस-जापान युद्ध में एक लाख। १८१३ की लाइप्‌जिग की लड़ाई में पांच लाख लोग थे और बीसवीं सदी के दो महायुद्धों का तो कहना क्या ? यह तो पूरी दुनिया को अपने साथ समेटने वाला भूगोल युद्ध या सकुल युद्ध (टोटल वार) ठहरा।

सन् १६१४ के पहले महायुद्ध में इटली के मोर्चों पर ४० मील तक फैली ४८४० तोपों ने सोलह दिन में ३,००,००,००० फायर किये, जिनकी कुल कीमत तीन करोड़ रुपयों से ऊपर थी। धुआं और आग दुश्मन पर फेंकने का सबसे पहला प्रयोग ग्यारहवीं सदी में चीनियों ने किया। मुगलों द्वारा १२वीं सदी में यह साधन तुर्कों

की मारफत यूरोप पहुचा। पर तु रासायनिक युद्ध का सच्चा प्रारभ गत महायुद्ध मे ही हुआ। तीन हजार ढग के रसायन प्रयोग मे लाए गये—प्रयोगशालाओं मे और युद्ध भूमि पर—जिनमे से सिर्फ बारह सफल हुए। १९३५-३७ मे इटली-अबीसिनिया युद्ध मे इटली मे विषैली वायु का सवप्रथम प्रयाग किया गया। जापानियों ने चीन म ३८ ३९ मे विषैली वायु का प्रयोग किया। १२३० ईस्वी में मुगल नेता कुबला खान ने हथगोले जसे बम सबसे पहले प्रयुक्त किये। १३४६ मे सबसे पहले युद्ध मे बारूद का उपयोग किया गया। १८८७ तक बिना धुएँ की बारूद का अन्वेषण नही हुआ था। जमन दूरमार तोपो का उपयोग सन् १९१४ की लडाई से शुरू हो गया था।

अमरीकी गृह युद्ध (१८६१-६५) में ४० लाख फौजें निमग्न थी, जिनमे उत्तरी अमरीका के करीब तीन लाख और दक्षिण के पाच लाख सिपाही काम आये। इस युद्ध का खच था करीबन ७४ करोड पौड। क्रीमियन युद्ध (१८५४ ५६) का खर्च ३० करोड ५० लाख पौंड था। १८५७ का गदर और १८६० की चीनी लडाई में प्रत्येक मे ५२ हजार की प्राणहानि हुई। १८७०-७१ के फ्रास प्रशिया युद्ध म पचास करोड साठ लाख पौंड खच हुए। स्पेन अमरीकी युद्ध (१८९८) मे प्रतिदिन अमरीका का ५ करोड पौंड और स्पेन का ३५००० पौड व्यय हुआ। १९१४ १८ के गत महायुद्ध की कीमत करीबन ८०० करोड पौड कूती गई है। यह हिसाब डा० निकालस बटलर ने लगाया है। एक करोड सिपाही मारे गये, दो करोड जख्मी हुए और युद्ध के बाद फली हुई इन्फ्लुएजा की महामारी मे एक करोड मरे। इस युद्ध म सात करोड लोग निमग्न थे।

गये महायुद्ध के आकडे तो इससे भी और भयानक हैं—मानव-प्राणो का, मानव द्वारा निर्मित और उत्पादित वस्तुओ का कितना विशाल परिमाण पर यह सहार है ? और आखिर क्या हाथ आया ? गत महायुद्ध के आरम्भ मे ही 'हरिजन' मे गाधी जी ने लिखा था कि इससे केवल परस्पर दुर्बलता बढेगी। और ठीक वैसा ही हुआ। इन युद्धो को उकसाने वाले, दुनिया में युद्धोन्माद फैलाने वाले जो नारे काम मे लिये जाते हैं उनमे धर्मग्रन्थो में प्रयुक्त शब्दों का भी उपयोग किया जाता रहा है, यह कैसे आश्चर्य की बात है ! धर्म, जो कि मनुष्य को शान्ति और परस्पर प्रेम का पाठ देने के लिए थे, वे ही नर-सहार के अस्त्र बनें, इससे बडी विडम्बना क्या हो सकती है। पर दुनिया के इतिहास में ऐसा सब हुआ है।

इसी परिपार्श्व में गांधी जी के काम की महत्ता हमारी नज़रो में और भी बढ जाती है। अमेरिका में पढाते समय हमें वाशिंगटन से मास्को पदयात्रा करने वाले अणु बम विरोधी शान्तिवादी जत्थे से मिलने का सौभाग्य मिला था। उनमे जेरी लेहमान ने हमे बताया कि वे गांधी जी की रचनाओ से कैसे प्रभावित हुए। और उनके निजी सग्रहालय में गांधी जी की 'नान वायलेन्स एण्ड पीस' पुस्तक की प्रतियां मुझे उनके घर पर उनकी मा ने बतलाई थी।

धम्मपद' में यमक वग्गो में बुद्ध ने कहा था

अक्कोच्छि म अवधि म अजिनि म अहासि मे।
ये च त उपनिय्हन्ति वेर तेस न सम्मति॥
अक्कोच्छि म अवधि म अजिनि म अहासि मे।
ये स तन उपनय्हन्ति वेर तेसूपसम्मति।

अध्याय ३

वर्ण-द्वेष

जापान में एक कहानी प्रचलित है जो कि आदर्श मनुष्य के बारे में है। यह एक किस्म की लोककथा है। दुनिया बनाने वाले परमात्मा ने कुछ मिट्टी ली और उसमें पानी मिलाया और उस गारे से एक आदमी का आकार बनाया। और उसे पकने के लिए भट्ठी में रख दिया। पहले दिन उसे बराबर पता नहीं था कि भट्ठी कितनी देर रहनी चाहिए। सो उस गुड्डे को उसने पक्का बनाने के लिए खूब पकने दिया। जब उसने खोला तो देखा कि भगवान का यह पूर्ण पुरुष एकदम काला हो गया है। उसने सोचा कि यह तो जैसा मैं चाहता था वैसा नहीं बना, सो उसने उसे जिस प्रदेश में फेंक दिया उसका नाम अफ्रीका खंड और दक्षिण अमेरिका आदि हुआ। वे लोग हबशी और नीग्रो और काले लोग कहलाये। दूसरे दिन उसने कुछ अधीरता से काम लिया और जल्दबाजी में उसने भट्ठी खोल ली। तो जो आदमी रूपी गुड़िया उसने बनाई थी, वह अधपकी रह गई—सफेद-सफेद। उन्हें उसने पश्चिम में फेंक दिया। वह यूरोप और अमरीका पहुँच गई। अंतिम दिन उसने ठीक समय देखकर भट्ठी को उचित नाप तौल से खोला। तो वह न एकदम काला, न एकदम

सफेद, पर पीला, ठीक जापानी जैसा, पूर्णगुणयुक्त मानव बना।

केवल जापान मे ही नही, हर देश मे, और हर जाति मे और हर छोटे-छोटे प्रान्त मे, और भाषा भाषी मे अपने आपको औरो से किसी न किसी गुण म अधिक उत्तम, अधिक श्रेष्ठ मानने की भावना रहती ह। इसके उदाहरण लोककथाओ, लोकगीतो, और वाक-प्रचारो मे, सारी दुनिया मे, इतने मिलते हैं कि इस मामले म किसी भी एक समूह को दूसरे मानव समूह को बुरा-भला कहना व्यर्थ है। इतनी सहिष्णु और उदार भारतीय सस्कृति मे भी आखिर दास, शूद्र, म्लेच्छ, बर्बर आदि शब्द कसे अर्थ-परिवर्तन पाते रहे हैं। एक धर्म वाले दूसरे धर्म मानने वाले को काफिर और 'इन्फिडल' और निगठ (निर्ग्रंथ) और पता नही किन किन विशेषणो से याद करते रहे हैं। शव के लिए वैष्णव और वैष्णव के लिए शैव, जैन के लिए बौद्ध और बौद्ध के लिए जैन, ब्राह्मण के लिए अ-ब्राह्मण और इसके उलट—अपने ही देश मे नाना जाति पथ-मत-अनुयायियो मे कितना विद्वेष और परस्पर सन्देह का वातावरण भरा रहा है। गांधी को इस चीज का अहसास बचपन मे कम हुआ था। माता वैष्णव सस्कारो वाली थी। बाद म वे जैनियो और पारसियो, मोमिना मुसलमानो के और ईसाइयो के सपर्क मे भारत मे आये। परन्तु उन्हे कही यह सवाल इतना अखरा नही, जितना इग्लड जाने पर और उसमे भी अधिक अफ्रीका जाने पर यह प्रश्न बहुत चोट देने वाला बनकर सामने आया। 'आत्मकथा' मे वे लिखते हैं

"मेरे वहाँ पहुँचने के सातवें-आठवें दिन की बात है, मैं डरबन से जा रहा था (प्रीटोरिया)। मेरा फर्स्टक्लास का टिकिट पहले से

रिजव कर लिया गया था गाडी मारित्जवग, नाताल की राज धानी, पहुँची, रात के नौ बजे के करीब। स्टेशन पर बिस्तरे भी दिये जाते थे। एक रेल कमचारी आया और उसने पूछा 'आपको बिस्तरा चाहिये।' मैंने कहा, 'नही, मेरे पास है।' वह चला गया। एक और प्रवासी बाद मे आया, और उसने मुझे सिर से पैर तक निहारा। उसने यह देखा कि मैं 'काला आदमी हूँ', इससे वह बहुत विचलित हुआ। वह बाहर गया और एक दो अफसरो को लेकर भीतर आया। वे सब चुप रहे, जबकि एक-दूसरा अफसर आया और उसने कहा, 'आइय, आपको वन कम्पाटमेंट मे (दूसरे साधारण डिब्बे मे) जाना पडेगा।'

"मैंने कहा—'पर मेरे पास तो फस्टक्लास का टिकिट है।'

"उसने उत्तर दिया—'वह जो भी हो, मैं कह रहा हूँ और तुम्ह उसी डिब्बे में जाना पडेगा।'

" 'मैं भी कहता हूँ कि डरबन से मुझ इस डिब्बे म सफर करने की अनुमति मिल चुकी है और मैं तो इसी डिब्बे मे जाऊँगा।

" अफसर ने कहा 'नही, तुम नही जा सकते। तुम्हे यह डिब्बा खाली करना ही होगा। नही तो मैं एक पुलिस कान्स्टबल को बुलाता हूँ, जो तुम्ह बाहर धकिया देगा।'

'हा, तुम जो चाहो सो करो। मैं अपनी खुशी से इस डिब्बे से बाहर नही जाऊँगा।'

"कान्स्टेबल आया। उसने मुझे हाथ पकडकर खीचा और बाहर या। मेरा सामान भी बाहर लाया गया। मैंने दूसरे डिब्बे म ने से इन्कार कर दिया और ट्रेन भाप छोडती हुई चली गई। मैं

जाकर वेटिंग रूम (प्रतीक्षालय) मे बठा रहा। मेरी हैंड-बग मेरे हाथ मे थी, और सारा सामान जहा था वही फेंका हुआ पडा था। रल के अधिकारियो ने उस सामान को अपने कब्जे मे ले लिया था।

' जाडे के दिन थे। दक्षिण अफ्रीका के ऊँचे इलाक़ा मे जाडा भयानक ठडा होता है। मारित्सबर्ग ऊँचाई पर था, और जाडा दात किटकिटाने वाला था। मेरा ओवरकोट सामान में रह गया था, परन्तु मैंने उसकी माग नही की, वे कही मेरा अपमान फिर से न कर बठें। मैं बैठा रहा और सिहरता रहा। कमरे मे प्रकाश नही था। आधी रात के समय एक पैसेन्जर आया और वह मुझसे बोलना चाहता था। पर मैं बोलने के मूड मे नही था।

" मैं अपने कर्तव्य का विचार करने लगा। मैं अपने हकों के लिए लड़ू या भारत वापिस लौट जाऊँ? या इन अपमानों की परवाह न करते हुए मैं प्रीटोरिया चला जाऊँ, और केस पूरी होने पर मैं भारत वापिस जाऊँ? अपना कर्तव्य पूरा किये बिना लौट जाना कायरता होगी। जिस कष्ट का मुझे सामना करना पडा, वह सतही था—यह तो वर्ण द्वेष की गहरी बीमारी का एक बाह्य लक्षण मात्र था। इसलिए, यदि सम्भव हो ता मुझे इस रोग को जड-मूल से दूर करने मे जुट जाना चाहिए। और इस प्रक्रिया म चाहे जो कठिनाइयाँ हों सहनी चाहिए। वर्ण-द्वेष को दूर करने के लिए जितनी हद तक जरूरी है उतना ही अन्याय का प्रतिकार मुझे करना चाहिए।

"इसलिए मैंने अगली गाडी मे प्रीटोरिया जाने का निश्चय किया।"

गांधी जी के जीवन मे 'काले गोरे' के भेद का यह पहला साक्षा-

त्कार और उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया का हम अहिंसा की दृष्टि से तीन स्तरा में बाट सक्ते है

(१) काले का गोरे द्वारा अपमान और उसके प्रति क्रोध। 'शठ प्रति शाठ्यम्' या लात का जवाब घूसे से देने की इच्छा। यह निरा अविचार है।

(२) जब काला निहत्था हो, नि शस्त्र हो और गोरा जो उससे विद्वेष करता हा अधिक हिंसक साधनो से स नद्ध हो, तब ? या तो बदला लेने के विचार से उन्ही साधनो से या उनसे अधिक कारगर सशस्त्र साधनो के लिए गुप्त या हर प्रकार के उपाय से तैयारी करना। और हिंसा पर उतारू होना।

(३) या काले को गोरे के विरुद्ध असहयोग, सत्याग्रह या इस प्रकार से अहिंसक प्रतिकार के लिए तैयार करना, कि जिसमे 'शठ प्रति अपि सत्यम्' का सिद्धात अपनाया जाय। इस उपाय म यह श्रद्धा निहित है कि हर मनुष्य मे अच्छाई है और उसका हृदय परिवतन हो सकता है। हिंसा या अपमान या द्वेष केवल क्षणिक या मौसमी बुखार की तरह विकार है। और वह उतर सकता है—चाहे दवा से चाहे प्राकृतिक चिकित्सा से।

विकार पर विचार की पशु प्रवत्तिया पर देवत्व की, असत् पर सत की विजय की यह अपार निष्ठा अपार धैय और सहिष्णुता की माँग करती है। काले और गोरे के बीच जो परस्पर द्वेष या सशय छिपा है, क्या वह समूल दूर हो सकता है ? या यह अहि नकुलवत या गरुड-सप की तरह चिरतन और चिर-कालिक है ? क्या बाघ और बकरी एक घाट पानी पी सकते हैं ? 'अहि-मयूर, मृग बाघ'

अपना परपरागत वैर तज सकते हैं ?

तो इस वैर का और गहराई से अध्ययन करना होगा ? क्या यह ज मना, त्वचा के रग से सम्बधित-मात्र है ? या और कोई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मानव-निर्मित कारण हैं, जिनसे इस वर को बढावा मिलता है ? विज्ञान और दशन म उन्नीसवी शताब्दी के यूरोप मे कुछ चिन्तको ने इस सारे वण द्वेष को जैसे एक सैद्धातिक पीठिका देकर समथन देने का भी यत्न किया। चारस डार्विन ने विकासवाद का सिद्धात प्रतिपादित किया और 'केवल योग्यतम ही अत मे इस जीवन सघष मे जीवित रह पाते हैं।' यह प्राणी-शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किया। कमजोर नस्लें या खत्म हो जाती हैं, शक्तिमान प्रजातिया विजयिनी होती हैं। इसी सिद्धात को जमन दार्शनिक नीटशे ने और भी सुदरता से प्रस्तुत किया 'कुछ प्रजातियाँ ज मना श्रेष्ठ होती हैं, बुद्धि और शक्ति म और इन्ह ही स्वेच्छा जीवित रहने का अधिकार है—अधिकाश लोग तो सदा शूद्र या दास रहेंगे ही। मनुष्य की इस दुदम बलेच्छा को ही इस आधुनिक शक्ति ने महत्ता दी। कहना नहीं होगा कि मनुष्य की इस दुर्दम शक्तिवधन की पिपासा मे से ही 'आय' श्रेष्ठता और 'स्वस्तिक' चिह्न का पुनरुद्धार कर करोडो नि शस्त्र यहूदियो को जिंदा जला देने वाला हिटलर और उसका विकृत नाजीवाद ऐसे ही थोथे दर्शन की उपज था।

एक और जमन यहूदी काल मार्क्स ने इतिहास की भौतिक व्याख्या कर डाली। और मनुष्य की पशु प्रवृत्तियो मे क्षुधा को सर्वाधिक महत्त्व को बताकर सारे इतिहास को वर्ग विग्रह का

इतिहास बताया। यूरोप में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उसमें मजदूरों के अतिरिक्त श्रम के आधार पर पूंजीवादी वर्ग के मुनाफे से मोटे होते जाने की बात को मुख्य बताया। और मनुष्य में ही अच्छाई, प्रामाणिकता, देवत्व आदि को उसने पण्य-वस्तु घोषित किया। 'धर्म गरीबों को गरीब बनाये रखने वाली अफयून है' यह कहकर उसने सारे आदर्शवादी मध्ययुगीन दर्शन को 'सामंती' घोषित किया। मार्क्स का जादू सिर पर चढ़कर बोला, और सन '१८ की रूसी क्रांति के बाद लेनिन का रूस स्टालिन का रूस बन गया और तीस-चालीस साल के भीतर ही वहाँ स्तालिनशाही ने ऐसे ऐसे कारनामे दिखलाये जो सामंती और पूंजीवादी जमाने के जारशाही या लुई चौदहवें के कार्यकाल को भी लज्जित करें। चीन में माओ त्से-तुंग की टिप्पणियों ने और कृतियों ने यह सिद्ध कर दिया कि सिद्धान्त कितना ही सम्मोहक क्यों न हो, उसे नाम चाहे जैसा मानवतावादी और उदार समाजवादी दिया जाय, यदि किसी राज्यशासन या सत्ता के हाथों अनियन्त्रित शक्ति संचित हो जाती है, तो पुनः वही विस्तारवाद, वही हिंसक हथकंडे, वही सैनिक तानाशाही पनपने लगती है।

हमने अपने ही देश में हाल के इतिहास में देखा है कि यदि किसी अल्प-संख्यक जमात के मन में यह सिद्धांत कूट कूटकर भर दिया जाय कि 'खुदी को कर बुलंद इतना कि तू खुद को खुदा समझ!' (इक्बाल) तो एक राष्ट्र के कुछ लोगों को द्विराष्ट्रवाद के नशे से प्रेरित करके धर्मांध और मुजाहिद बना दिया जा सकता है। फिरकापरस्ती और तअस्सुब, साम्प्रदायिकता और धर्मद्वेष को पूर्ण

सैद्धान्तिक पीठिका दी जा सकती है। और अंग्रेजी की कहावत सार्थक होती है कि 'दि डविल कोट्स दि स्क्रिप्चस' (यानी शैतान भी धर्मग्रंथ का आधार देने लगता है!)

अत गांधी ने देखा कि मानव को मूलत शक्ति-सचायक, बलेच्छा-लोलुप, क्षुधा-काम का पुतला, निरा भौतिक ढांचा मानकर चलना ही सारी गडबडी की जड है। जाति-भेद, वर्ण-द्वेष, धर्मों की परस्पर असहिष्णुता इसी बीज में से निकलती है। हमारी मनुष्य के बारे में क्या कल्पना है? क्या वह निरा पचभूतो का पुतला है? क्या वह केवल वनस्पति या कीट पक्षी पशु योनि का ही एक सुधरा हुआ रूप है? या उसमे और भी कुछ है जिसे सदसद्विवेक, आत्मा, चिदश आदि कहा जाता है? यह चैतन्य अंश ही यदि मनुष्य है, तो उसस प्रतिकार करना होगा—अन्यथा मनुष्य तो अणु-वर्गों की एक अनविच्छिन्न परम्परा के गर्त में खो जायेगा। आत्महता बन जायगा।

गांधी के जीवन में दक्षिण अफ्रीका में ही फिर एक घटना घटित हुई, जिसने उनकी इस श्रद्धा को और दृढ बनाया। 'आत्मकथा' में वे लिखते हैं, "हमारा जहाज बम्बई से २३वें दिन के सफर में 'क्वारेंटाइन' में डाल दिया गया। केवल स्वास्थ्य के कारणो से ऐसा नहीं किया गया था। मूल उद्देश्य था इस प्रकार स प्रवासियों को वापिस जाने के लिए बाध्य करना। हम लोगो को नई-नई धमकियाँ दी जाने लगी, 'अगर तुम वापिस नहीं लौट गये तो तुम्हे समुद्र में फेंक देंगे। पर यदि तुम लौटने को राजी हो गए तो वापिस जाने का किराया भी हम तुम्हे दे देंगे।' मैंने कहा कि हमे नाताल बदरगाह

मे उतरने का अधिकार है। और हम तो नाताल म किसी भी हालत मे उतरेंगे ही। तेईसवें दिन जहाज बन्दरगाह मे आया।

' जहाज से उतरते ही, कुछ नौजवानो ने मुझे पहचाना और चिल्लाना शुरु किया— गांधी, गाधी', आधा दजन आदमी जमा हो गए और चिल्लाने लगे थोडी देर बाद भीड बढती ही गई। मुह पर पत्थर, इटो के टुकडे, सडे अडे फेंकना उन्होंने शुरू किया। किसी-ने मेरी पगडी छीन ली। औरो ने मुझे ठलना और लातो से चलना चाहा। मैं बेहोश होकर गिर पडा और एक मकान के सामने की रेलिंग का सहारा लेकर सास लेना चाहता था। पुलिस सुपरिंटेंडेंट की पत्नी ने मुझे बचाया। भीड के लिए अब मुझपर घूसे बरसाना सम्भव नहीं था, श्रीमती अलक्जडर को भी नुकसान पहुँचाये बिना।"

जब मुकदमा चलाने की बात आई, मि० चेम्बरलेन न मि० एसकाम्बे को लिखा और गाधी जी से पूछा गया तो उन्होंन कहा, 'मैं किसीको पकडवाना नही चाहता। भीड मे से एक-दो के सिवा सबको पहचान पाना भी सम्भव नही। मैं उन्ह क्यो दोष दू? उन्ह यह गलत खबर दी गई थी कि नाताल के गोरो के अत्याचारो के खिलाफ मैंने भारत मे अतिरंजित समाचार दिये थे। इन लोगो को भडकाने वाले नेता और, आप बुरा न मानें तो, आप खुद इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है। रायटर के समाचारो पर सबने भरोसा कर लिया और मुझे पूछा तक नही। सत्य का जब पता लगेगा तो धीरे धीरे उन्ह अपने दुर्व्यहार पर लज्जा आएगी।"

इस तरह से गाधी जी के जीवन मे काले-गोरे के भेद की समस्या

ने बहुत तीव्र रूप से प्रवेश किया। और इसका अहिंसक समाधान उन्होने खोज निकाला। इसी प्रश्न से जुडा हुआ था भारत मे सवर्णो का अवर्णो के साथ दुव्यवहार। भारत की जाति-प्रथा, गाधी जी के शब्दो में, 'हिन्दू धम के लिए कलक' थी। यह बात नही कि जाति-भेद, किसी न किसी रूप मे, अन्य देशो और सभ्यताओ मे भी किसी न किसी रूप मे नही था। ब्रिटेन मे रोमन राज्य के समय पुत्र को पिता का पेशा करना और एक ही पेशे मे विवाह का नियम था, जमनी मे 'जेनोस्सेनशापटन' या जिसके अनुसार सरदार या ठाकुर, सिपाही या सेवक को अपनी वशपरम्परा उसी काम मे सिद्ध करनी पडती थी। 'ब्यूर्गरस्टाण्ड' व्यापारी वग था और 'बौउएनस्टाण्ड' देहाती सामान्य प्रजा थी। पेरू मे और मिस्र मे भी व्यवसायो की वशपरम्परा होती थी। फिजी द्वीप मे सुनारो की एक अलग जाति थी। टागा द्वीप पर गोदना गोदने वाले, नाई और लाठी काटने वाले छोडकर सब काम वश-परम्परा से होते थे। यहाँ तक कि प्राचीन रूस मे 'चिन' या १४ वर्ग थे, जिनकी सामाजिक प्रतिष्ठा मे ऊँच-नीच तय थी। रोम मे पट्रीशियन, प्लेबियन थे। और मैडागास्कर मे चार वण थे—सामन्त, होवा, ज़ाराहोवा और आन्देवो (दास)—जिनमे आपस मे शादियां नही होने दी जाती थी। यूरोप के राजवशो मे भी 'एबेन ब्यूरटिगृकीट' (वश समानता) का सिद्धात था—ऊँचे राजसी रक्त के लोग अपने से नीचे लोगो के साथ शादी नही कर सकते थे। एडवड अष्टम को सिम्प्सन के साथ शादी करने पर अभी हाल मे सिंहासन छोड देना पडा था।

पर भारत का वण-द्वेष और जाति परम्परा का **इतिहास तो**

और भी भयानक रहा है। इसमे न केवल जन्मना ऊँच नीचपन, पर व्यवसायो का एकाधिकार और प्रतिलाम अनुलोम और मकडों उप-उप-उपजातियों ने सारी समस्या का और कठिन बना दिया था। विशेषत छुआछूत ने तो सारे प्रश्न को एक आदिवासी ढग क अविचारपूर्ण अन्धविश्वास मे बदल दिया था। शास्त्रो ने कई तरह के समर्थन भी पेश किए थे। ऋग्वेद के दशम मडल का 'ब्राह्मण मुह मे, राजन्य बाहुआ से, वश्य उरु से और शूद्र चरणो से पैदा हुए' यह समाज-पुरुष का यज्ञ सम्बन्धी वह चित्र लाग भूल गए कि आखिर य सब एक ही शरीर के अङ्ग तो थे। पर बाद म मनुस्मृति ने तो जैसे आग मे घी डाल दिया और मानव मानव के बीच परस्पर सम्बन्धो को एकदम विखडित कर दिया। महाभारत-काल मे सब जातियां म आपस मे विवाहादि मुक्त भाव मे होते थे। पर हम दखते हैं बुद्ध को इस जकडबन्दी के विरुद्ध बहुत आन्दोलन करना पडा। चाडाल भिक्षुकी का प्रसग और कई ऐसे जातीय प्रसग हैं जिनसे स्पष्ट है कि बाद मे उच्च वर्ण की 'मोनोपोली' (तानाशाही) का विरोध बहुत जोरो से हुआ। बुद्ध ने समुद्र मे मिलनेवाली नदियों का उदाहरण देकर कहा कि बुद्धत्व के मानने वाले वर्ण-भेद मे नही रह सकते।

जन मुनि कुन्दकुन्दाचार्य को यही उपदेश देना पडा :

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भव
न मुच्यते भवात्तस्मात ये जातिकृताग्रहा ॥
जातिलिंगविकल्पेन येषा च समयाग्रह ।
तऽपि न प्राप्नुवत्येव परम पदमात्मन ॥

(अर्थ—जाति देहाश्रित है और देह ही ससार है । अत जिनका आग्रह जाति-ब्राह्मणत्वादि पर है वे ससार से नही छूट सकते । जाति और वेश के विकल्प से जो मताग्रह करते हैं वे भी आत्मा का परम-पद नही पा सकते ।)

अल-सिकन्दर (अलेक्जेडर) जब भारत मे आया तो पजाब मे उसने कोई जाति नही देखी । मेगास्थनीस नामक ग्रीक यात्री ने लिखा है कि रैयत, व्यापारी, सिपाही और जिम्नोसोफीस्ट' और बौद्ध 'जर्मन' (यानी जैन, तात्रिक और बौद्ध श्रमण) यहा थे । स्त्राबो नामक इतिहासकार सद्रकोट्टस (चन्द्रगुप्त) के समय का वर्णन देते हुए लिखता है, "कोई भी हिंदू ब्राह्मण हो सकता था ।" बाद मे एरियन आदि यूनानी इतिहासकारो ने सात जातिया गिनाई हैं—पण्डित, किसान, गडरिए दस्तकारी करने वाले, सिपाही, अफसर ।

आईने अकबरी म जा १५५० मे १६०४ के बीच लिखी गई, क्षत्रियो और दूसरा जातिया की ५०० उप-जातिया हैं ऐसा कहा गया है । भारत मे पारसी मुस्लिम, ईसाई आदि बाहर से आने वाले धर्मों के प्रवेश के बाद जातिभेद का यह चक्र-व्यूह और जटिल होता गया । ज्यों-ज्यों धर्मांतर होते गए और दो धर्मों मे परस्पर-विवाह आदि हुए तो उनसे उत्पन्न सतान एक और जाति बन गई । फिर हमारे यहा मातृसत्ताक और पितृसत्ताक पद्धतिया भी थी । 'हिन्दू लॉ' बना । और वर्षों तक कई तरह के उसमे हरफेर होते रहे । असलन १८६९ मे कहा गया कि अवैध सतानो को माता-पिता की सम्पत्ति मिल सकेगी । १८६७ मे दूसरा कानून बना कि अवैध

सन्तानों का ऐसी सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं।

डा० टी० के० एन० उन्नीत्तन ने 'गांधी एण्ड फ्री इण्डिया' नामक ग्रोनिन्जन से छपे शोध-ग्रन्थ (थीसिस) में एक पूरा अध्याय 'जाति और अछूतपन' पर दिया है और उसमें बताया है कि आर्थिक कारणों से यह वर्ण-भेद कितना भयानक बन गया। गांधी जी ने कहा था कि "यह जातिभेद हिन्दूधर्म को लगा हुआ कोढ़ है। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का पाप है। अस्पृश्यता से हिन्दूधर्म चौपट हो रहा है।" मध्य युग में ही कई सन्तों ने जिनमें कबीर, दादू, नामदेव, नानक, तुकाराम, वेमना, नम्मालवार, पेरियालवार, शङ्करदेव, भीम भाई आदि ने इस प्रकार के कृत्रिम मानव मानव-भेद के विरुद्ध आवाज उठाई थी। "जात पात पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई॥" आचार्य क्षितिमोहन सेन की हिन्दी में अनुवादित बँगला पुस्तक 'भारतवर्षे जातिभेद' में बहुत अच्छा वर्णन इस सारे इतिहास का दिया है। कई सुधारक प्राचीन काल से आधुनिक युग तक हुए राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, रामकृष्ण-विवेकानन्द, रानडे-गोखले-आगरकर, लाला लाजपतराय आदि-आदि जिन्होंने जातिभेद की व्यर्थता पर बहुत बल दिया।

गांधी जी की महानता और विशेषता इसमें थी कि उन्होंने इस समस्या के भारतीय धार्मिक चातुर्वर्ण्यमिश्रित रूप को, अन्तर्राष्ट्रीय वर्णद्वेष के प्रश्न से मिलाया। और इस बात पर आग्रह किया कि हिन्दू हो या ईसाई, मुस्लिम हो या अन्य मतावलम्बी—इन सबको इस वंश परम्परागत उच्च नीचता या चमड़ी के रंग से अपने आप को श्रेष्ठतर समझने के मिथ्याभिमान को छोड़ना होगा। नैतिकता

के मामले में दुहरी नीति के मानदण्ड काम में नहीं लाए जा सकते।

यही कारण है कि दक्षिण अमेरिका के नीग्रो सत्याग्रहियों ने अपने अधिकारों को मनवाने में गांधी जी के सत्याग्रह के साधनों का उपयोग किया। और बस बहिष्कार और स्कूलों में, कालिजों में प्रवेश आदि मामलों में वे सफल भी हुए। डा० मार्टिन लूथर किंग जैसे शान्तिवादी नेता ने अपने ग्रंथ में गांधी जी के लेखों से और ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त करने की बात लिखी है। शुरू शुरू में अमेरिका में भी इस अहिंसक पद्धति के संग्राम के विषय में सन्देह और उपहास का वातावरण रहा। परन्तु धीरे धीरे इस पद्धति की महत्ता और श्रेष्ठता समझ में आने लगी। एक ओर अंधे वर्ण विद्वेष से प्रेरित कू-क्लुस-क्लैन जैसी भयानक हिंसक गुप्त जमातें थीं जो 'काले आदमी को जिन्दा जलाने (लिंचिंग) में विश्वास करती थीं, और दूसरी ओर कानून भी 'कालों' के बहुत अनुकूल नहीं था। ऐसी स्थिति में वर्ण-द्वेष की इस अति कठिन गुत्थी को सुलझाने में गांधीजी का समझौता, बातचीत, हृदय-परिवर्तन, पंच फैसले वाला मार्ग ही सर्वोत्तम माना गया।

भारत में भी यरवदा जेल में गांधी जी के उपवास और अन्तत डा० भीमराव अम्बेडकर और गांधीजी के बीच में समन्वय से जो हल दलितों और हरिजनों के विषय में निकाला गया वह इसी बात का द्योतक है कि ऐसे प्रश्न जो कई सदियों से आदतों के रूप में रक्त में रचे रहते हैं, उनका समाधान यान्त्रिक ढंग से रातोंरात नहीं पाया जा सकता। उसके लिए दोनों पक्षों को कुछ झुकने और एक-दूसरे को समझने के लिए तैयार होना पड़ता है। हमारे देश में भी लियोपाल्डविल या अफ्रीका में घटित हिंसाश्रित घटनाओं की तरह वर्ण-

द्वेष के अन्याय और अत्याचार के विरोध मे हिंसा का आश्रय लेकर गुत्थी या सुलझाने के बदले गाठ को काट फेंकने के उपाय सुझाने वाले कुछ अधीर और क्रुद्ध नेताजन हैं। परन्तु इतिहास का गभीर अध्ययन जिसने किया होगा वह जानेगा कि वर्षो के सस्कार, ऐसे क्रान्तिकारी उपायो से जो मिटा देना चाहते हैं, वही दूसरे देशो मे भी प्रजाति के सस्कार फिर से उभरे हैं और पुनर्नाजीवाद की तरह या 'जायनिज्म' की तरह रूस और चीन जैसे प्रजातिवाद मे विश्वास न करने वाले साम्यवादी देशो मे भी यहूदियो पर अत्याचार के स्मारक 'बाबी यार' मे क्या नही निर्मित किए गए ऐसी शिकायत लए सिरे करने लगे है। और माक्स के राजनतिक विचारो मे पुराने सामन्तवादी और उच्च वर्णीय सस्कारो की बू कुछ आलोचको ने पाई है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य मे यह ऊँच नीच के पीढियो और सहस्रको से चले आ रहे सस्कार कभी पूरी तरह मिट ही नही सकेंगे। ऐसा मानना भूल से भरा होगा। मनुष्य जाति के भविष्य के प्रति ऐसा निराशावाद गाधी मे नही था। उन्होने वर्ण-द्वेष के बारे मे अपने पत्रो मे लिखा था (१) 'यग इण्डिया' मे १२-११-१९३१ को 'औद्योगीकरण' के बारे मे लिखते हुए गांधी जी ने कहा था, 'क्या तुम सारी स्थिति को ट्रेजेडी नही देखते ? हम तो तीस करोड बेकारो के लिए काम जुटा लें, पर इग्लैड को अपने तीस लाख बेकारो के लिए काम न मिले, और वहा बेकारी की समस्या ऐसी विकट हो जाय कि इग्लैड के अच्छे अच्छे बुद्धिमानों को भी हल न मिल सके। औद्योगीकरण का भविष्य अधकारपूर्ण है।

इंग्लैंड के साथ सफल स्पर्धा करने वाले देश हैं अमेरिका, जापान, फ्रांस, जर्मनी। भारत को मुट्ठीभर मित्रों में उसे होड लेने वाले नजर आते हैं, और अब जैसे भारत में जागृति आई है दक्षिण अफ्रीका में भी जागृति आयेगी और उसके पास तो प्राकृतिक खनिज और मानवी तीनों प्रकार के कहीं अधिक समृद्ध उपकरण हैं, अफ्रीका की बलवान प्रजातियों के आगे शक्तिशाली अंग्रेज बौने-से लगते हैं। अफ्रीकियों के लिए शायद आप कहें व बड़े सद्गुणी जंगली लोग हैं। सद्गुणी वे अवश्य हैं, पर जंगली नहीं हैं। कुछ वर्षों के बाद पश्चिम के राष्ट्रों को पता चल जायगा कि अफ्रीका को वे अपना हर तरह का माल जमा करने का गोदाम नहीं बना सकेंगे।"

इस प्रकार से गांधी जी वर्ग-द्वेष और उसपर आधारित साम्राज्य विस्तारवाद का मूल आर्थिक शोषण मानते थे, जिसपर कुछ विचार अगले अध्याय में होगा।

(२) 'हरिजन' में २३-२-१९४७ को एक प्रश्न के उत्तर में 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त पर लिखते हुए उन्होंने कहा था, "परमात्मा सर्वशक्तिमान है और वह चीजें बटोरकर नहीं रखता। यही बात आदमी भी सीखे और इस तरह से ट्रस्टी (विश्वस्त) का सिद्धान्त आम कानून बन जाय। यह सिद्धान्त दुनिया को भारत से मिले। ऐसा होने पर कोई शोषण नहीं होगा। आस्ट्रेलिया और अन्य देशों में केवल गोरे लोगों के लिए 'सुरक्षित प्रदेश' नहीं रहेंगे। इन रंग-भेदों के कारण ऐसे युद्ध होंगे जो सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों के बीच होने वाली लड़ाइयों से अधिक भयानक होंगे।

मानव-मानव की समानता का सिद्धान्त, जैसा कि कुछ पश्चिम

के विचारक हमे बताना चाहते हैं, १८वी सदी की फ्रास की क्रान्ति के बाद या बीसवी शती की रूसी क्रान्ति के बाद ही दुनिया म नही प्रचलित हुआ। बहुत पहले से प्राय सभी धर्मों मे सब मनुष्यो को परमात्मा के एक से पुत्र माना गया है। महाभारत मे लिखा है कि 'मनुष्य से बढकर कोई धर्म नही' और वही चडी ठाकुर नामक बगाली सत कवि ने गाया था, "सबार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नेइ।" सारे सेवा और त्याग के आदर्श जो प्राचीन और मध्य-युगीन महापुरुषो ने कृति वचन और विचारो द्वारा उपस्थित किये, उनके पीछे यही मानवतावादी सिद्धान्त था। इसी सिद्धान्त के कारण असीसी के ईसाई सत फ्रासिस ने कोढियो की सेवा की। और गाधी जी ने सेवाग्राम मे परचुरे शास्त्री की सेवा अपने हाथो से की। मानवतावाद एक प्राचीन सिद्धान्त है।

मानवतावाद ने धार्मिक मानवतावाद से सामाजिक मानवतावाद का रूप मध्य युग मे ग्रहण किया, जब दुनिया के कृषि प्रधान समाज नगर प्रधान होने लगे। सारी यूनानी चिन्ताधारा इसी 'सिविटास' (नागरिकता) के आस पास चक्कर काटती है। नैतिकता की धुरी नागरिक या सामाजिक द्वारा मान्यता बन गई। जिसमे प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा के मान निकले। भारत मे सामत काल मे राजा, सामत सरदार सेनाधिकारी आदि राजन्य को महत्व दिया जाने लगा। भूमि की रक्षा प्रधान हो गई। और ब्राह्मण, पुरोहित, पडित आदि राज परामर्शदाताओ की वाणी ही काफी नही मानी गई। 'शापादपि शरादपि' का विधान आया, परन्तु मानव की हेयता केवल युद्ध म पराजित जातियो, या बदियो और गुलामो

के व्यापारों में पण्य-वस्तुओं की तरह मानने से ही नहीं मिली। स्त्री और शूद्र के लिए वेदाध्ययन की मनाई कर दी गई। धीरे धीरे समाज कई खण्डों में विच्छिन्न और विजडित होने लगा। परिणाम यह हुआ कि मानव-मानव की जन्मना समानता के औपनिषदिक—सत्यकाम जाबाल की कथा वाले—सिद्धान्त की अवमानना होने लगी।

औद्योगिक परिवर्तनों के बाद यह समस्या और भी तीव्रतर हो गई। अर्थ-साम्य की समस्या दुनिया के लिए एक विषम रोग बन गई। उसका विचार अगले अध्याय में विस्तार से होगा। परन्तु भारत में औद्योगीकरण एक वरदान सिद्ध हुआ। उससे जातिभेद की जकडन कम हुई। "जाति मारिलो तीन सेने। स्टेशने, विल्सन, केशवसेने॥" यह कहावत बंगाल में आम प्रचलित हुई। महानगरों में और उद्योग-केन्द्रों में श्रमिक आकर जुटने लगे। उनकी जात पात का प्रश्न गौण हो गया। निर्माण-कार्य में दूर-दराज से मजदूर न केवल चाय या काफी बागान में, पर सडकें और भवनों के बनाने में और खदानों में और कारखानों में जुटने लगे। परन्तु इसमें से एक और प्रकार की विषमता निर्मित हो गई। जमींदार और किसान वाली विषमता तो जमींदारी-उन्मूलन नियम ने नष्ट कर दी, महाराजाओं का भी विलयन हो गया, पर बडे-बडे उद्योगपति-पूंजीपति और सामान्य मजदूर-बसकर के बीच की आय की खाई बढती गई। इस वर्ग विग्रह ने नई जातियाँ पैदा कर दी। स्वराज्य के बाद जातिभेद मिटाने के बहुत यत्न, सरकारी और गैर-सरकारी तरीके पर किये गये। अछूतोद्धार के लिए शिक्षा के क्षेत्र में

के क्षेत्र म, बहुत कुछ किया गया। फिर भी यह साहसपूर्वक नही कहा जा सकता कि यह सब प्रश्न मिट गए है। शहरो मे कुछ हालत सुधरी है, पर गाँव देहात म अब भी सवर्णों और हरिजनों के कुए अलग अलग है।

जब अपनी ही दशा ऐसी हो, तब ससार को उपदेश देने की बात कहते जाना बडबोल मात्र है। 'परोपदेशे पाण्डित्यम !' 'पर उपदेश कुसल बहुतेरे' (तुलसीदास), 'लावा सागे ब्रह्मज्ञान। स्वत कोरडे पाषाण॥' (तुकाराम) ऐसी बातो का असर कम पडता है जहा हम जो कहते हैं वह खुद करते नही। वर्णद्वेष की आग अफ्रीका मे, दक्षिण अमेरिका मे गोरी दुनिया म बहुत जगह बराबर जल रही है। भारत में उसका रूप वर्णाश्रित यानी काले और गोरे रग-भेद पर निर्भर नही है। यहा उप जातियाँ उप जातियो से लडती हैं। और एशिया के कुछ देशो मे और दक्षिण अफ्रीका मे भी भारतीयों को पुन भारत वापिस भेजने के आन्दोलन हो रहे हैं। ऐसी विचलनशील स्थिति मे, ससार म, यदि प्रजातियो प्रजातियो के बीच शान्ति प्रस्थापित करनी हो तो पुन वही मार्ग उचित जान पडता है, जो गाँधी जी ने सुझाया था।

यह मार्ग इसलिए सही है कि वह वैज्ञानिक मानवतावाद और धार्मिक मानवतावाद का समन्वय है। उसम मानवी विभेद जो जन्मना है—जैसे चमडी का रग या अन्य कई शारीरिक लक्षण—उन्हे मानकर चलने की बात है। उनके आधार पर किसीको श्रेष्ठतर या हीनतर कैसे माना जा सकता है

—क्या हरी या भूरी आँखें वाली आँखों से कम या अधिक देखती

है ?

—क्या सुनहरे या भूरे बाल वाले बालों से कम या अधिक सुंदर होते हैं ?

—क्या चिपटी नाक या लम्बी नाक के कारण घ्राण शक्ति में कोई कमी या अधिकता होती है ?

—क्या ऊँचे या ठिगने कद के कारण मनुष्य की अच्छी बुरी प्रवृत्तियों में फर्क आ जाता है ?

—क्या ओठ पतले या मोटे होने से या बाल सीधे या घुंघराले होने से मनुष्य की मानवता में कोई अंतर होता है ?

यह सब शारीरिक अंतर जो जन्म से अनविच्छिन्न रूप से मनुष्य के साथ लगे रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं है। और चमड़ी का रंग बदल जाने से मनुष्य के विकार विचार नहीं बदल जाते। अतः गांधी जी ने इस समस्या की जड़ को पकड़ा। उन्होंने उसीपर प्रहार किया। जन्म से किसी भी व्यक्ति को दूसरे से अपने आपको श्रेष्ठ मानने का कोई अधिकार नहीं। इसी बात को उन्होंने दुहराकर कहा और उसके लिए जीवन में बहुत सहन भी किया। पूना में सनातनियों ने उनकी मोटर पर पत्थर फेंके, विनोबा को देवघर में लाठी खानी पड़ी और ऐसे अन्य कई उदाहरण हैं। वर्ण-द्वेष का सिद्धांत आज की दुनिया में किसी भी बिना पर टिक नहीं सकता। न आध्यात्मिक, न भौतिक, न ऐतिहासिक, न सामाजिक किसी तर्क से उसका समर्थन असंभव है।

१० मार्च, १९१५ को दक्षिण अफ्रीका से लौटकर गांधीजी शांतिनिकेतन पहुंचे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ के शांतिनिकेतन में और तो सब

यातों को खूब सराहा, पर भोजन के लिए बैठे हुए लोगा की ग्रलग ग्रलग पक्तियाँ उनकी समझ मे नही ग्राईं। रवी द्रनाथ ने कहा, 'हम उच्च वर्णीयो पर कोई बाध्यता नही डालना चाहते।" पर महात्मा जी को वह ग्रच्छा नही लगा। ग्रब १० माच को गाधी-पुण्य नाम से वह दिन शातिनिकेतन मे ग्राज भी मनाया जाता है, जब सब सफाई करने वाले, झाड़ू वाले, बतन वाले ग्रादि छुट्टी पर जाते है। ग्रौर ग्राश्रम के विद्यार्थी सब मिलकर ग्रपना काम खुद करते है। केवल एक दिन का प्रतीकात्मक गांधी-स्मरण ग्रपने-ग्रापम चाहे ग्रच्छा हो, बहुत व्यापक परिमाण पर इस देश मे स्वावलबन ग्रौर श्रम की प्रतिष्ठा का ग्रा दोलन जरूरी है। गाधी-शताब्दी मे हम इस देश मे सचमुच भगी-मुक्ति पा जाएँ तो बडी बात होगी।

अध्याय ४

अर्थ-साम्य

आज यदि कोई समाजव्यापी विषम समस्या विराट रूप में उलझी हुई बन गई है तो वह है राष्ट्रों और राष्ट्रों के बीच में आर्थिक असंतुलन। कुछ राष्ट्र दाता हैं, कुछ याचक। और फिर राष्ट्रों-राष्ट्रों की व्यापार-उद्योगादि क्षेत्रों में आर्थिक समस्याएँ हल करने के ढंग और तरीके भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। कुछ मुक्त व्यापार में विश्वास करते हैं कुछ राज्य नियंत्रित व्यापार में। कहीं व्यापार राजनीति से अनुशासित है कहीं नहीं। फिर एक ही राष्ट्र के भीतर भी अनेक आर्थिक पद्धतियाँ हैं कहीं सोवरखोज़ (सामूहिक कृषि के फार्म) हैं, कहीं 'कम्यून', कहीं 'किबुत्स'। कहीं सहकारिता पर जोर है तो कहीं परंपरा पर। कहीं कृषि-प्रधानता पर, कहीं उद्योग-प्रधानता पर। ऐसी स्थिति में यह आशा करना कि सारे देश एक ही आदर्श का पालन करेंगे, 'गूलर के फूल' की तरह व्यर्थ की आशा और तलाश है। फिर भी यह जब हम देखते हैं कि गांधी जी ने जिस ग्राम केंद्रित स्वराज्य का स्वप्न देखा था, और जिन आदर्श अर्थ-नीतियों की बातें उन्होंने बार बार कहीं, उनमें कहीं बहुत गहरी और शाश्वत सचाई है। समाज की कई विषमताओं के लिए वह

आदर्श और वह दिशा-दर्शन बहुत काम का है। इसी दृष्टि से नीचे कुछ बातें उनके जीवन और विचारों से देने का यत्न किया जा रहा है।

पचगणी म जुलाई १९४६ के अंतिम सप्ताह मे लुई फिशर की गांधी जी से जो बातचीत हुई, जिसका ब्यौरा प्यारेलाल जी ने ४ ८ १९४६ के 'हरिजन' मे दिया था, उससे यह चर्चा शुरू करना चाहता हूँ

गांधी जी ने कहा—'हमारे समाजवादी भाइयो की त्याग और सेवा की भावना के लिए मेरे मन मे बहुत प्रशंसा भावना है, फिर भी मैंने उनके और मेरे तरीको मे जो तीखा अंतर है उसे कभी नही छिपाया है। वे तो स्पष्टत खुले आम हिंसा म विश्वास करते हैं और उसके साथ जो कुछ भी उसमे छिपा है उसम भी। मैं अहिंसा मे पूरी तरह विश्वास करता हूँ।'

इससे चर्चा समाजवाद की ओर मुडी। फिशर ने बीच मे बात काटते हुए कहा, 'तो वे भी समाजवादी हैं और आप भी हैं?'

गांधी जी ने उत्तर दिया, 'मैं हूँ, वे नही हैं। उनमे से बहुत-से नही जनमे थे तब का मैं समाजवादी हूँ। जोहान्सबर्ग मे एक कट्टर समाजवादी की नजर मे भी समाजवादी था। पर वह बात तो अब न यहा की है न वहा की। मेरी बात तो तब भी रहेगी जब समाजवाद भी नही रहेगा।

आपके समाजवाद का क्या मतलब है?'

मेरे समाजवाद का अर्थ है 'अंतिम व्यक्ति तक भी' या सर्वोदय। मैं अंधो, बहरो और गूगो की राख पर नही खडा होना

चाहता। उनके समाजवाद मे, शायद इन लोगो के लिए कोई स्थान नही है। उनका एकमात्र उद्देश्य है भौतिक प्रगति। उदाहरणार्थ अमेरिका चाहता है कि हर नागरिक के पास एक कार हो जाये। मैं नही चाहता। मैं तो अपने व्यक्तित्व के पूरे विकास के साधन चाहता हूँ। अगर मैं चाद तक सीढिया बनाना चाहूँ तो उसकी मुझे स्वतत्रता होनी चाहिए। इसका मतलब यह नही है कि मैं ऐसा कुछ करना चाहता हूँ। उस तरह के समाजवाद मे कोई व्यक्तिगत स्वतत्रता नही है। वहा तो तुम्हारे पास किसी चीज पर अधिकार नही। अपने शरीर पर भी नही।'

" 'मेरे और उनके समाजवाद मे यह फर्क है। मेरे समाजवाद मे यह होगा कि सरकार किसी चीज पर कोई अधिकार या सत्ता नही रखेगी। रूस मे तो राज्य ही सर्वसत्ताधारी है। वहा तो आप कोई गुनाह न करें तो भी सुनना है, किसी भी समय आप गिरफ्तार हो जा सकते हो। वहा आपको चाहे जहा भेज दे सकते हैं।'

" क्या आपके आदर्श समाजवाद में, राज्य बच्चो को शिक्षित करने का यत्न नही करेगा ?'

" 'सभी राज्य करते हैं। अमेरिका भी।'

" तो अमेरिका रूस मे बहुत भिन्न नही है।'

" असल मे आप तानाशाही के विरुद्ध हैं।'

" 'समाजवाद तो तानाशाही है या फिर आरामकुर्सी का दर्शन-मात्र है।' "

ऐसी यह बातचीत चलती रही जिसमे गांधी जी ने समाजवाद और साम्यवाद के मिश्रण की भी बात की। लुई फिशर ने स्वीकार

किया कि मार्क्स के मूल सिद्धातो को पहले लेनिन ने क्राति द्वारा ज़मीन पर उतारा, और बाद मे स्तालिन ने और भी उन्हे विकृत कर दिया। और इस प्रक्रिया मे मूल उद्देश्य से समाजवाद दूर-दूर होता चला गया—ठीक जैसे धर्म अपने मूल स्थान से बदलकर रूढियो मे जकड जाता है।

मानव समता की बात सभी करते है। पर क्या वह सभव है? और सभव भी हो तो कहाँ तक?

गाधी जी यत्रो के विरुद्ध थे, ऐसा भी एक प्रवाद फैलाया गया है पर वे मोटर, रेल, घडी, टेलीफोन, माइक्रोफोन, सीने की मशीन आदि का उपयोग करते थे। बाइसिकल के भी वे विरुद्ध नही थे। वस्तुत वे मशीन के गलत उपयोग के विरुद्ध थे। वे यान्त्रिकता के विरुद्ध थे। मैक्स वेबर ने अपने समाजशास्त्र के ग्रथो मे लिखा है कि कार्ल मार्क्स अपने वर्ग-विग्रह मिटाने के लिए व्यापक औद्योगीकरण के सिद्धात के प्रचार के जोश मे भूल गया कि यत्रो के साथ जो फुरसत आयेगी, जो इफरात से उत्पादन होगा उसमे मनुष्य कैसे अकेला पडता चला जायेगा? यह आत्म-निवासन उसके लिए शाप की तरह सिद्ध होगा। गाधी जी ने इसी बात को भाप लिया था। और इसीलिए उन्होने 'मनुष्य और मशीन' के सिलसिले मे कहा था

मैं तो बिना किसी हिचकिचाहट से दृढतापूर्वक कहूँगा कि दुनिया म 'मास प्रोडक्शन' (विशाल परिमाण पर उत्पादन) का पागलपन ही आज की दुनिया के सारे सकटो का मूल है। यह भी मैं क्षण भर मान लू कि मशीन से सारी मानव जाति की सब जरूरतें पूरी की

जा सकेंगी, फिर भी उससे उत्पादन कुछ ही क्षेत्रों मे केन्द्रित हो जायगा। और फिर वितरण को नियन्त्रित करने के लिए उलटे और व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि उत्पादन और वितरण, अपने-अपने क्षेत्रों म आवश्यकतानुसार स्वय नियत्रित होते चलें तो फिर अप्रामाणिकता को और सट्टेबाजी को प्रश्रय नही मिल सकेगा।"

वस्तुत मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो यह सिद्धात अस्तेय व्रत पर निभर है। वेदों में कहा गया है—

मोघमन्न विन्दते अप्रचेता
सत्य ब्रवीमि वधइत् स तस्य।
न अर्यमण पुष्यति नो सखाय
केवलाघो भवति केवलादी॥

(अर्थ—सकुचित दृष्टि वाले मनुष्य को मिली हुई धनराशि व्यर्थ है। उसके घर मे वह राशि नही सचित है, बल्कि उसका मरण सचित है। जो भाई-बहन को नही देता, सुपात्र को नही देता और केवल अपने तक ही देख पाता है, ऐसा आदमी पापरूप है।)

सम्पदा के दो पक्ष होते हैं। वह व्यक्ति जो बिना परिश्रम किये जमा करता है और केवल जमा ही करता जाता है, किसीको नहीं देता, वह एक प्रकार से चोरी करता है, ऐसी चोरी से बचना चाहिए। अस्तेय का मतलब है चोरी न करना।

सम्पदा का दूसरा पक्ष लोभ है। अर्थात् जितना आवश्यक हो उससे अधिक की कामना करना। लालची आदमी का कभी भला नहीं होता। ईशावास्योपनिषद् का यह मत्र गांधी जी ने

सैन फ्रांसिस्को में १६०३ में व्याख्यान देते हुए स्वामी विवेकानंद ने एक दृष्टान्त दिया था "एक बार तालाब और नदी में एक बहस छिड़ गयी थी। तालाब ने नदी से कहा—'ओ नदी, तू अपनी जल रूपी सम्पत्ति समुद्र को क्यों जाकर देती है? यह कितनी मूर्खता की बात है कि अपनी सम्पदा को तू समुद्र को इस तरह लुटा देती है। जबकि उसे तेरी सम्पत्ति की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। समुद्र से अधिक कृतघ्न कौन होगा? कष्ट से संगृहीत अपने मीठे जल का कोष तू उसके मुँह में उँडेल भी दे तो क्या होगा? उसका खारापन जरा भी कम नहीं होगा। इसलिए अपनी सम्पत्ति का अपव्यय न कर। तू उसका संचय कर।'

नदी ने उत्तर दिया, 'मैं फल की या परिणाम की बात ही नहीं सोचती। मुझे यश अपयश की भी चिन्ता नहीं। मुझे केवल कर्म करते रहना अभीष्ट है। कर्म के लिए कर्म मेरा आदर्श है। सतत उद्योग मेरा ध्येय है। मेरी आत्मा मूर्तिमन्त कर्तृत्व से भरी है।'

"इस प्रकार से नदी अपना काम करती रही। सैकड़ों हजारों, लाखों कलश जल उसने समुद्र को दिया। तीन-चार महीने तक यही क्रम चलता रहा। इस बीच उस कंजूस तालाब का पानी सूख गया। तले का कीचड़ सड़ गया और उससे दुर्गंध आने लगी। उसके पास लोगों ने आना तक बंद कर दिया। परन्तु नदी का पानी अनवरत बहता रहा। क्योंकि उसमें बारह मास बहने वाली धाराएँ अपना काम कर रही थीं। समुद्र तल में भाप के रूप में पानी खींचने का काम सूर्य की किरणें करती जा रही थीं और उन्हें मेघ में परिणत करके वर्षा में बरसाती जा रही थीं। इस प्रकार नदी का रिक्त

स्थान बराबर भरता गया और नदी अपना काम करती रही।"

दान का ऐसा ही क्रम सम्पत्ति के बारे मे भी सत्य है। समाज मे यदि अर्थ-चक्र का चक्रनेमिक्रम इस तरह से न चलता रहे तो समाज की भी दशा उसी सड़े तालाब की तरह हो जाएगी। अर्थ के जो विविध उपकरण हैं उनमे उनका भ्रमण, निरंतर अभिसरण, बहुत आवश्यक है। यदि वह केवल जमा होता गया तो उतना ही बेकार होगा जितना कि भूस्तर मे दबा हुआ धन, जो कोयले मे परिणत हो जाता है। जैसे मानव शरीर मे रक्त बराबर धमनियो मे न दौड़ता रहे और एक जगह कहीं रुक जाये तो रोग होने की सम्भावना होती है, ठीक वही बात अर्थ के बारे मे सही है।

अर्थोत्पादन की प्रत्येक सीढ़ी के बारे मे गाधी जी के विचार उपयोगी हो सकते हैं उत्पादन, वितरण, विनियम, उपभोग—सभी क्षेत्रो मे। खेती मे उपज की ही बात लें तो गाधी जी जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओ की कृषि के पक्ष मे थे, केवल नगद मुनाफा दिलाने वाली पैदाइश या 'कश क्रॉप' के पक्ष मे नही थे। तमाखू या अफीम की खेती से ज्यादा मुनाफा होता है तो उसीको बो रहे हैं, चावल या गेहूँ के लिये विदेशो के आगे हाथ पसार रहे है, यह बात गाधी जी पसन्द नही करते थे। गन्ने या कपास की उपज मे भी ध्यान विदेशी मुद्राजन पर रखने की बात उनकी समझ मे नहीं आती थी। कृषि म वे आत्म-निर्भरता को प्राथमिकता देना चाहते थे।

अन्न और वस्त्र में स्वावलम्बन पर जोर देने से गाधी जी दस्त-कारी या हस्तोद्योग को महत्त्व देते थे। वे **तन्तु-मिल व्यव-**

दूसरा तर्क यह पेश किया जाता है कि कानून से भी कोई ट्रस्टी यदि नियुक्त हो, जैसे नाबालिग की सम्पत्ति की देख-भाल करने के लिए कोई व्यक्ति तो क्या गारण्टी है कि यह 'विश्वस्त' या ट्रस्टी कोई गोलमाल न कर बैठे ? ऐसे आक्षेपक—जिनमें सोवियत रूस की एनसाइक्लोपीडिया के प्रथम खण्ड के लेखक या उनके भारतीय परामर्शदाता भी थे—यह मानते हैं कि गांधी जी महाराजा, जमींदार पूंजीपति वर्ग के प्रच्छन्न समर्थक थे। और उन्होंने एक प्रकार से उन 'शोषकों' का समर्थन किया। यह भी कहा जाता रहा है कि गांधी जी वर्गाधिष्ठित व्यक्ति के वर्गीय स्वार्थों को नहीं देख पाते थे या महत्त्व नहीं देते थे, और उसकी वैयक्तिक सादगी या सद्भावना आदि को ही महत्त्व देते थे। ये सब तर्क कितने निराधार हैं, यह गांधी जी के लेखन को जिसने गौर से पढ़ा है, वह जानता है। बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की स्थापना के अवसर पर गांधी जी का वह ऐतिहासिक भाषण, जिसे एनी बेसेंट को रोकना पड़ा, महाराजाओं की स्तुति में नहीं था, और न अहमदाबाद की प्रसिद्ध हड़ताल के समय उनका भाषण और उपवास पूंजीपतियों या मिल-मालिकों के अनुकूल था। जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ तो पूरा दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह अभियान और चंपारन में और खेड़ा में और बारडोली में किए गए किसान-सत्याग्रह थे।

१९३६ में किशोरीलाल घ० मश्रूवाला ने 'गांधीवाद से समाजवाद' नामक एक लेखमाला लिखी थी, जिसे स्वयं गांधी जी ने संशोधित किया था। उसमें का अंश 'ट्रस्टी' सिद्धान्त को स्पष्ट करेगा :

'गांधीवाद समाजवाद के बीच सारे विरोध वितंडावाद के मूल

म निजी संपत्ति पर अधिकार की समस्या है। गांधी जी निजी संपत्ति के अधिकार की स्वतन्त्रता रखने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें अभी तक उसे पूरी तरह नष्ट करने का कोई अहिंसक उपाय समझ में नहीं आया। मारे समाजवादी मानते हैं कि संपत्ति का अधिकार समाज और मनुष्यजाति को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है। गांधी जी इस स्थिति को नहीं मानते। वे ऐसा सोचते हैं कि एक ऐसी आदर्श स्थिति भी आ सकती है जब मनुष्य में से यह 'सम्पत्ति पर अधिकार' वाली हविस पूरी तरह नष्ट हो जाए। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर, उन्हें लगता है कि आज तो सारी मानव जाति इस बात को जल्दी से पूरी तरह छोड़ देने वाली नहीं है। तो ऐसी स्थिति में देखना यही है कि यह संपत्ति पर अधिकार तो रहे पर वह बाधक न हो, इसके लिए क्या किया जाए? जो भी व्यक्ति संपत्ति रखे वह इस भावना से रखे कि वह समाज के लिए केवल एक 'ट्रस्टी' के नाते उसे रख रहा है। इससे भिन्न कोई समाधान अभी तो नजर नहीं आता।"

गांधी जी के अर्थ साम्य के सिद्धांतों में दस्तकारी या हस्तोद्योगों के स्थान पर भी पश्चिम में बहुत बहस चलती रहती है। विसकान्सिन युनिवर्सिटी में जब मैं गांधी-दर्शन पर एक कोर्स दो साल तक पढ़ाता था, तब अमेरिकी छात्र छात्राओं की ओर से बार-बार यह तर्क उठाया जाता था कि औद्योगिक सभ्यताओं के विकास में 'अनिवार्य बुराई' के रूप में हिंसा का कुछ अंश तो मानना ही होगा। जैसे मकान बनाते समय, कुछ यन्त्रों की आवाज उठेगी और धूल तो उड़ेगी ही। भारत औद्योगीकरण कर रहा है और उसमें वह उन सब खतरों में कैसे बच पायेगा, जिनमें पश्चिम के महानगर ग्रस्त हैं?

इस मामले में गांधी ने अपने मन को मुक्त रखा था। चाहे अर्थ शास्त्र हो या राजनीति, धर्म अध्यात्म हो या नास्तिकता धर्म विरोध, गांधी जी ने इन सब प्रश्नों पर बहुत गहराई से विचार और मनन किया था, एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि को अपना कर। कितना कुछ विदेशी विचारधारा में से हम ग्राह्य है, कितना हमारे अनुकूल है इन सब बातों पर उन्होंने काफी ध्यान दिया था, ऐसा लगता है। इसलिए उनकी बात न केवल भारत में कई वर्षों तक सही रहेगी पर दुनिया के अन्य देशों को भी उनमें बहुत कुछ सीखने और ग्रहण करने योग्य मिलेगा, ऐसा भी कहा जा सकता है—अर्थात् उतनी ही मात्रा में जितना भारत के और अन्य देशों के बीच मानवी परंपरा और प्रगति के बीच समानताएँ हैं।

साम्य या समता शब्द एकरूपता का पर्यायवाची नहीं मान लेना चाहिए। जो बात अमेरिकी के लिए उचित होगी, वह ज्यों की त्यों हर भारतीय के लिए भी होगी, यह मानना उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना कि जो बात हर रूसी के लिए उचित होगी वह ज्यों की त्यों हर भारतीय के लिए भी उचित होगी यह मानना। यह दोनों मान्यताएँ मनुष्य स्वभाव के यांत्रिक और जड़मनोविज्ञान पर आधारित हैं। मनुष्य अपने स्थल-काल परिवेश की भौतिक उपज होता है, उतना ही उसका चिंतन-भावन संस्कारों की उपज के साथ साथ, उसके अपने परिवेश से जुड़े सम्बन्धों और उसे बदल सकने की क्षमताओं पर निर्भर रहता है। एक आदिवासी या दुनिया की वैज्ञानिक प्रगति से कटा हुआ एक तिब्बती या अफ्रीकी कहीं अधिक

भलामानुस या सत्प्रवृत इनसान हो सकता है, और एक सारी सुख सुविधाओं में पलने वाला आधुनिकतम व्यक्ति भी अत्यंत स्वार्थी और असत प्रयोजनों से कर्म करने वाला हो सकता है। मनुष्य की अच्छाई-बुराई का मानदण्ड केवल उसके आसपास के भौतिक साधनों की सख्या या गुण मान लेना, मनुष्य के साथ अन्याय करना है। गांधी जी ने इस बात को अपने जीवन में घटित किया और प्रत्येक कर्म और वचन मे उसे सिद्ध किया।

वस्तुत सारी लडाई मनुष्य के बाह्य से उसके आन्तर जीवन को जाचने से शुरू होती है। मनुष्य के बाह्य का उसके आन्तर जीवन पर परिणाम इतना सहज, गणितीय ढग से नही हो जाता। जिन एशियाई छोटे देशों मे अमेरिका ने बहुत डालर-वर्षा 'एड' (सहायता) के रूप मे की, वे सबके सब अमेरिका के अनुयायी या अमेरिकी विचारो मे प्रभावित हो ही गए, यह बात हाल की घटनाओं से तो सिद्ध नही होती। कम्युनिस्ट होने से पहले चीन या नाटो का सदस्य पाकिस्तान इसके उत्तम उदाहरण हैं। लाओस के बारे मे यह मजाक अमेरिकी पत्र 'टाइम' ने ही छापा था कि वहा की वार्षिक आमदनी से अधिक इमदाद अमेरिका ने दी। परिणाम यह नहीं हुआ कि लाओसी लोग अधिक आत्मनिर्भर हो गए या अधिक परिश्रमी होकर सडकें बनाने लगे या धान की खेती में उन्होंने कोई सुधार किए। बल्कि हुआ यह कि लाओसी लोग अधिक अफीम लेने लगे। मनुष्य मे यह स्वाभाविक है कि वह परिश्रम से बचता है, परिवर्तन से बचता है, और अधिकाधिक आराम चाहता है। क्या यह **प्रवृत्ति अमेरिका या**

इस मामले मे गाँधी ने अपने मन को मुक्त रखा था। चाहे अर्थ शास्त्र हो या राजनीति, धर्म अध्यात्म हो या नास्तिकता धर्म विरोध, गाँधी जी ने इन सब प्रश्नो पर बहुत गहराई से विचार और मनन किया था, एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि को अपना कर। कितना कुछ विदेशी विचारधाराओ मे से हमे ग्राह्य है, कितना हमारे अनुकूल है इन सब बातो पर उन्होने काफी ध्यान दिया था, ऐसा लगता है। इसलिए उनकी बाते न केवल भारत मे कई वर्षो तक सही रहेगी पर दुनिया के अन्य देशो को भी उनसे बहुत कुछ सीखने और ग्रहण करने योग्य मिलेगा, ऐसा भी कहा जा सकता है—अर्थात् उतनी ही मात्रा मे जितना भारत के और अन्य देशो के बीच मानवी परपरा और प्रगति के बीच समानताएँ है।

साम्य या समता शब्द एकरूपता का पर्यायवाची नही मान लेना चाहिए। जो बात अमेरिकी के लिए उचित होगी वह ज्यो की त्यो हर भारतीय के लिए भी होगी, यह मानना उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना कि जो बात हर रूसी के लिए उचित होगी, वह ज्यो की त्यो हर भारतीय के लिए भी उचित होगी, यह मानना। यह दोनो मान्यताएँ मनुष्य-स्वभाव के यात्रिक और जडमनोविज्ञान पर आधारित है। मनुष्य अपने स्थल-काल परिवेश की भौतिक उपज होता है, उतना ही उसका चितन-भावन सस्कारो की उपज के साथ साथ, उसके अपने परिवेश से जुडे सम्बन्धो और उसे बदल सकने की क्षमताओ पर निर्भर रहता है। एक आदिवासी या दुनिया की वैज्ञानिक प्रगति से कटा हुआ एक तिब्बती या अफ्रीकी कही अधिक

भलामानुस या सत्प्रवृत इनसान हो सकता है, और एक सारी सुख सुविधाओं मे पलने वाला आधुनिकतम व्यक्ति भी अत्यत स्वार्थी और असत प्रयोजनो से कर्म करने वाला हो सकता है। मनुष्य की अच्छाई-बुराई का मानदण्ड केवल उसके आसपास के भौतिक साधनो की सख्या या गुण मान लेना, मनुष्य के साथ अन्याय करना है। गांधी जी ने इस बात को अपने जीवन मे घटित किया और प्रत्येक कर्म और वचन मे उसे सिद्ध किया।

वस्तुत सारी लडाई मनुष्य के बाह्य से उसके आन्तर जीवन को जाचने से शुरू होती है। मनुष्य के बाह्य का उसके आन्तर जीवन पर परिणाम इतना सहज, गणितीय ढग से नही हो जाता। जिन एशियाई छोटे देशो में अमेरिका ने बहुत डालर वर्षा 'एड' (सहायता) के रूप में की, वे सबके सब अमेरिका के अनुयायी या अमेरिकी विचारो मे प्रभावित हो ही गए, यह बात हाल की घटनाओं से तो सिद्ध नही होती। कम्यूनिस्ट होने से पहले चीन या नाटो का सदस्य पाकिस्तान इसके उत्तम उदाहरण हैं। लाओस के बारे मे यह मजाक अमेरिकी पत्र 'टाइम' ने ही छापा था कि वहा की वार्षिक आमदनी से अधिक इमदाद अमेरिका ने दी। परिणाम यह नहीं हुआ कि लाओसी लोग अधिक आत्मनिर्भर हो गए या अधिक परिश्रमी होकर सडकें बनाने लगे या धान की खेती में उन्होंने कोई सुधार किए। बल्कि हुआ यह कि लाओसी लोग अधिक अफीम लेने लगे। मनुष्य में यह स्वाभाविक है कि वह परिश्रम से बचना है, परिवर्तन से बचता है, और अधिकाधिक आराम चाहता है। क्या यह प्रवृत्ति अमेरिका या

रूस द्वारा जादू की लकड़ी घुमाने से, सहसा बदल जाती है ? यूगोस्लाविया, हंगरी, पोलण्ड, रूमानिया, अलबानिया आदि क्या रूस के अन्धभक्त हैं ? क्या वहाँ रूस की सारी अर्थ-नीतियों की पूरी पूरी समाराधना की जाती है ? तो कहने का तात्पर्य यह है कि आज की दुनिया में कोई भी राष्ट्र, चाहे साम्राज्यवादी हो, पूंजीवादी हो या साम्यवादी, यह सोचे कि वह अपनी अधिक शक्ति से—अणुबम निर्णायक शस्त्र-बल, या अधिक सम्पत्ति दान की क्षमता, या भूखे नंगों को रुचने वाले चटपट नारों और प्रचारतन्त्र से—पूरी तरह किसी कमजोर राष्ट्र का 'धर्म परिवर्तन' करा सकेगा, तो वह उसकी भूल है। साढ़े तीन सौ वर्षों तक पुर्तगाली गोआ पर कब्जा किए रहे। गोआ पुर्तगाल नहीं बन सका। डेढ़ सौ वर्षों से भारत पर ब्रिटेन का शासन रहा, पर भारत ब्रिटिश आचार पद्धतियों का मजाक ही उड़ाता रहा। दो सौ बरसों से अमेरिका क्यूबा पर रौब गालिब करता रहा, पर क्या हाथ आया ? ठीक वही जो चीन का बड़ा मुल्य राष्ट्र, फारमोसा और ताइपेह के साथ करने पर तुला है। मानवी सम्बन्धों में छोटे-बड़े, ऊँच नीच की समस्या केवल भौतिक बल और सख्या से नहीं सुलझ सकती। मार्क्स का सिद्धान्त कि 'सख्या से गुण बदल जाता है' इतिहास ने झुठला दिया है।

इस प्रकार से, अर्थ साम्य के क्षेत्र में गांधी जी की देन एक बहुत बड़ी चीज भविष्य में साबित होगी। यद्यपि अभी तक कुछ लोग उसे केवल एक आदर्शवादी की आध्यात्मिक सनक कहकर टालना चाहते हैं, फिर भी धीरे-धीरे ज्यों ही सतुलन विश्व के विचारों में स्थापित होगा, गांधी के विचारों का महत्त्व सबकी समझ में

आएगा। दुनिया को यदि जीवित रहना है तो—'जियो और जीने दो' वाली गांधी-नीति ही अन्तत: सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर होगी, जिसमें व्यक्ति को व्यक्ति के नाते पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, और जहां सामाजिक बुराइयों का समाधान या उपचार व्यक्ति से ही शुरू होगा। मूल बीज वहीं है। आदमी नहीं सुधरेगा, तो सारे बड़े-बड़े शब्द और विशेषणों वाले 'वाद' और तन्त्र व्यर्थ पड़े रह जाएँगे। पंछी ही उड़ गया तो पिंजरे को क्या कर लीजिएगा? चैतन्य-तत्त्व प्रधान है यह विदेशों में हरीक्लाइटस से बेगसा तक, एक्वाइनस से हाइडेग्गर तक सभी मानते रहे हैं, जैसे भौतिकता के महत्त्व को सुनकाने का यत्न न पूर्व में चार्वाक ने किया न कनफ्यूशस ने, न कपिल ने, न बुद्ध ने। ईशावास्योपनिषद् की बात में बहुत सचाई है कि 'सम्भूति' और 'असम्भूति' दोनों का एकान्त अनुसरण हमें केवल अन्धकार की ओर ले जाता है। आवश्यकता है समन्वय की, सन्तुलन की, जो विवेक गांधी ने न केवल हमें दिया, पर सारी दुनिया को भी दिया।

अध्याय ५

आत्म-संयम

स्त्री पुरुष सम्बन्धो मे गांधी जी आत्म सयम को प्रधानता देते थे। बाह्य नियन्त्रण या सन्तति-निरोध के साधनों की अपेक्षा वे चाहते थे कि काम के प्रति मनुष्य के मूलभूत विचारो मे ही परिवतन घटित हो तो अधिक अच्छा हो। गांधी जी का सारा प्रयत्न हृदय परिवर्तन पर आधारित था। उनसे पहले भी कई सन्त और सुधारक हुए, पर उन्होने स्त्री के पुरुष के साथ समानाधिकार के बारे मे उस रूप मे विचार नही किया, जैसे गांधी जी ने किया। पुराने सन्त तो नारी को 'नरक की खान' कहकर उससे बचने का ही उपदेश देते रहे। घोर निवृत्ति-माग का उन्होने प्रचार किया और पश्चिम के सम्पर्क के बाद राजा राम मोहनराय पडिता रमाबाई, दयान द या रानडे, गोखल, आगरकर जसे सुधारको ने स्त्री पुरुष सम्बन्धो म केवल पश्चिम से लाई गई विचारधारा शिक्षा, कानूनी अधिकार, आर्थिक स्वतन्त्रता, वोट देने का हक आदि बातो मे पुरुष के साथ सब प्रकार से तुल्य बल होने पर ही जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रवृत्ति पर ही जोर देने से नारी की मुक्ति का आन्दोलन आरम्भ मे यूरोप इग्लैण्ड के 'सफ्रेजेट' आन्दोलन जसा

और बाद मे रूस की क्रान्ति के बाद-सा बहुत कुछ अराजकवाद और स्वच्छन्दवाद में परिणत हो गया। गांधी जी ने देखा कि इन दोनों ऐकान्तिक मार्गों मे कैसे खतरे हैं। नारी से मुह मोडने वाले विश्वामित्र जैसे ऋषि मेनका से शकुन्तला की उपलब्धि पर चकित और क्रुद्ध होते हैं, शुक रम्भा के आगे पराजित होते हैं। और बौद्ध मघो मे तीन सौ वर्षों के भीतर बहुत कुछ गिरावट का एक कारण, किसा गौतमी के कहने पर बुद्ध द्वारा अपने शिष्यों मे उपासिकाओं को प्रवेश देना भी माना जाता है। यूरोप मे कैथोलिक धर्म मे उपासक उपासिकाओ का आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत से जुडा रहना, एक बडी घटना है, पर उसे लेकर समाजशास्त्रियो ने और साहित्यिकों ने क्या-क्या नही लिखा—इसके लिए फ्रास के और इटली के कथा-उपन्यास और नाटक फिल्में साक्षी हैं। दूसरी ओर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो को केवल जीवशास्त्रीय स्तर पर मानकर पूर्ण मुक्ति या स्वच्छन्द भोगाचार वाला चार्वाक से डी० एच० लारेंस तक का समर्थन मान लेने पर भी समस्या सुलझती नही नजर आती। पर अमेरिका, यूरोप, जापान आदि देशो मे जहा सब प्रकार की काम तृप्ति और यौनाचार को सामाजिक नही तो भी बौद्धिक समर्थन प्राप्त है, जहा गर्भ निरोध और अवध गर्भधारण की भी छूट है (जैसे जापान में गर्भपात कानूनी ढग से वध है) वहा भी मनुष्य अधिक सुखी बन गया हो ऐसी बात नही है। समाजशास्त्रियो की जाच से आकडे पाए जाते हैं जो डरावने हैं यौन रोगो की वृद्धि के, जीवन मे अस्थिरता के, भय के कारण बढते बाल-विवाह के, अप्राकृतिक सम्बन्धो के, विवाह-विच्छेदो के और आत्म-हत्याओ के भी!

अत 'इन दोउन राह न पाई' वाली बात गांधी जी ने ठीक ठीक समझी थी। पहले भारतीय पारम्परिक दृष्टिकोण नारी के प्रति लें और उसपर विचार करें। इस दृष्टि से साहित्य और शिक्षा के इतिहास से बहुत कुछ साक्ष्य मिल सकता है। वेद और उपनिषदो के समय स्त्रिया पुरुषो से किसी भी प्रकार से कम नही मानी जाती थी। शतपथ ब्राह्मण मे बताया गया है कि स्त्रियाँ पुरुषो के बराबर किस प्रकार से थी 'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक।' 'अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया।' ऋग्वेद मे भी 'होता' या यज्ञ करने वाला और उसकी पत्नी एक साथ यज्ञकर्म करते थे ऐसा उल्लेख है 'यस्य दम्पती सुमनासा सुनुत आचधानि। देवासो नित्य-याशिरा॥" अथर्ववेद मे ऐसा भी उल्लेख है कि स्त्रियो का उपनयन और जनेऊ होता था और बहुत-सा समय वे वेदाध्ययन मे बिताती थी। घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी, वाचक्नवी आदि महिलाए मन्त्रद्रष्टा ऋषिया की समकक्षिणी थी। गृह्यसूत्रो मे उल्लेख है कि गृह्याग्नि के रक्षण में रात और दिन जो होम किया जाये वह पत्नी ही करे। जब नवान्न आता, तब फसल के उत्सव मे सीता-यज्ञ स्त्रिया ही करती थी।

वैदिक काल मे ही भारतीय साहित्य को स्त्रियो की अनुपम देन मिलती रही है। यद्यपि मैत्रायणी संहिता (४-७ ४) के अनुसार स्त्रिया सभा-समाज मे नही आती थी, केवल पुरुष ही राज-सभाओ मे भाग लेते थे, फिर भी उपनिषद काल में याज्ञवल्क्य को प्रश्नो से निरुत्तर करने वाली गार्गी जैसी विदुषिया मिलती हैं, जिनका स्थान दर्शन के इतिहास मे बहुत बडा है। कात्यायन श्रौतसूत्र

(१-१७) में कहा गया है कि 'श्रुति स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं मानती है।' उस ज़माने में भी घर में स्त्री की सत्ता प्रधान थी, इसमें सन्देह नहीं। तैत्तरीय संहिता (७ २-१) और शतपथ ब्राह्मण (५-२-१-१०) का साक्ष्य यही है। ऋग्वेद में अदिति, जुहू, इन्द्राणी, सरमा उर्वशी, रात्रि और सूर्या देवी अथवा अर्द्धदवी या पौराणिक भी मान लें तो भी सत्ताईस महान स्त्रियों में श्री, मेधा, दक्षिणा, श्रद्धा अमूर्त आदर्शों की मूर्त कल्पनाएँ मान ली जाएँ और उन्हें छोड़ भी दें फिर भी नौ या दस ब्रह्मचारिणियां अवश्य काव्य रचती थीं। उनमें विश्ववारा, अपाला, घोषा, गोधा, वसुक की पत्नी, अगस्त्य की बहन, लोपामुद्रा, शाश्वती और रोमशा प्रमुख थीं। अम्भृण ऋषि की पुत्री वाच की ऋचाएँ, जो ऋग्वेद में दशम मण्डल में १२४ संख्या में हैं, बाद में शाक्तों का देवी सूक्त बनी। वाच कहती है, "जिसे मैं प्रेम करती हूँ, उसी को शक्तिमान बना देती हूँ। वाक्-शक्ति स्वर्ग और पृथ्वी से परे तीनों भुवनों को अपने में समेटे हुए है। विश्ववारा का अग्निस्तोत्र उसकी भक्ति दिखलाता है। अपाला का ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में ६१वां इन्द्रस्तोत्र नारी के उन्मुक्त प्रणय-निवेदन का एक प्राचीनतम लेखा है। ऋग्वेद में ३९वें और ४०वें दो पूरे स्तोत्र घोषा के रचे हुए हैं जिनमें वैवाहिक जीवन की आनन्दमय अपेक्षाओं का वर्णन है। मान्धात्री और गोधा की सम्पूर्ण ऋचाएँ उपलब्ध नहीं हैं। लोपामुद्रा रचित दो रचनाएँ (१-१७९-१-२) नारी-मन के उस दुख को व्यक्त करती हैं जिसमें पति के संयम कठोर होने पर व्यग्र है। शाश्वती नारी की ऋचाएं (१-१७९-६) शृंगार-भरी हैं। बृहद्देवता में जिसे भावभव्य की पत्नी कहा

वह रोमशा अपनी यौवन-प्राप्ति पर हर्ष व्यक्त करती है। सक्षेप मे वैदिक काल मे नारी पुरुष से किसी भी तरह पीछे नही थी—अपने विचार-विकारो की अभिव्यजना भी वह उतने ही मुक्त रूप से करती थी।

उपनिषदो की मैत्रेयी और गार्गी कवयित्रिया से अधिक ब्रह्मवादिनिया थी। वे विदुषी थी और जीवन और मरण के गहन प्रश्नो पर वे तर्क करती थी। यदि तब स्त्री पुरुषो को समान भाव से शिक्षा न दी जाती तो यह कैसे सम्भव था? वाल्मीकि रामायण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब राम कौशल्या से पूछकर वन-गमन को प्रस्तुत हुए, तब कौसल्या होमकार्य मे निमग्न थी। बालि की पत्नी तारा भी मन्त्रज्ञा थी। सुन्दर काण्ड मे उल्लेख है कि हनुमान सायकाल थककर सीता के शोधार्थ सरोवर किनारे गए, क्योकि उस समय स्त्रियाँ शाम को सरोवर पर जाकर सन्ध्यावन्दन आदि करती थी। जनेऊ के बाद जिन लडकियो की थोडी बहुत पढाई होते ही शादी हो जाती थी उन्हे 'सद्योद्वाहा' कहते थे, जो जल्दी शादी न करके वेद-वेदान्त का अध्ययन करती थी वे 'ब्रह्मवादिनी' मानी जाती थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ऐसी ही स्त्री थी। 'काशकृतना' उन स्त्रियो की उपाधि थी जो पूर्व मीमासा पढती थी।

बुद्धकाल मे हमे चुल्लवग्ग मे ऐसा ही उल्लेख मिलता है कि पहली तीन बार भगवान तथागत ने भिक्षुणियो को प्रव्रज्या ('पब्बज्जा) या दीक्षा लेने से इनकार कर दिया। अन्त मे महाप्रजापति गौतमी के आग्रह पर बुद्ध ने स्रोत आपत्ति फल, सकृदागामिफल,

अनगामिफल, अर्हत्फल प्राप्त कर लेने वाली स्त्रियों को संघ में आने की अनुमति दी। 'अट्ठ गरुधम्म' या आठ उत्तरदायित्वों का पालन उन्हें करना पड़ता था। थेरीगाथा में जिन दर्शनशास्त्र की अध्येता महिलाओं का वर्णन है उनमें बत्तीस कुमारियाँ और अट्ठारह परिणीताएँ हैं। अविवाहितों में शुका, अनोपमा, सुमेधा अमीर घर की थीं। फिर भी आजन्म कौमार्य व्रत पालन करके वे दर्शन के अध्ययन में लग गईं। अश्वलायन सूत्रों से सुलभा, वडवा, प्रातिथेयी आदि उपाध्यायार्थ अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है। जैनों में भी स्त्रियों के पर्याप्त अधिकार प्राचीन काल में थे। भगवान महावीर की माता प्रियकारिणी राजसभा में जाकर सम्मानपूर्वक वाद-विवाद करती थी। हरिवंश पुराण सर्ग १२ में उल्लेख है कि जयकुमार भगवान का द्वादशांगधारी गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंग की धारक आर्यिका। आदिपुराण के १६वें पर्व में भगवान आदिनाथ ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को पढ़ाया और यह उपदेश दिया था कि 'अगर नारी पढ़ी लिखी विद्यावती हो तो वह स्त्रियों में प्रधान गिनी जाती है।'

तो प्रश्न यह उठता है कि 'स्त्रीशूद्रौनाधीयताम्' वाला जो शास्त्र-वचन उठा, वह कब से और क्या शुरू हुआ? बादरायण, जैमिनी आदि स्त्रियों के वेदाध्ययन के विरोधी नहीं थे। परन्तु मेगास्थनीज लिखता है, 'ब्राह्मण अपने दर्शन स्त्रियों को नहीं पढ़ाते हैं। अतः पतंजलि से पूर्व, करीब ईसा से पूर्व ढाई सौ साल के समय—मनुस्मृति के रचना-काल में—आकर शूद्रों तथा स्त्रियों का विद्याधिकार समाप्त हुआ था। कुछ लोग इसका कारण पार्थियन, शक—

कुछ सामग्री जमा की थी और अपना टम-पेपर (मत्र का निबन्ध) भी लिखा था।

मैं इस दृष्टि से डा० राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित १९३९ म २ अक्टूबर को गांधी जी की सत्तरवी वर्षगांठ को अर्पित ग्रंथ मे स्त्रियो द्वारा दी गई श्रद्धाजलिया पढ रहा था। उसमे कुछ विचार सूक्त इस प्रकार से है

१ पल बक—गांधी का नाम एक व्यक्ति का नही, एक जीवन-पद्धति का हो गया है। इस जीवन-पद्धति मे अन्याय का प्रतिकार दृढता और अस्वीकार से करने की सीख और प्रेरणा मेरी ही तरह विश्व के करोडो नागरिको ने पाई।

२ एथेल मैनिन—मैंने उनके जीवन मे आज तक दर्शन नहीं किये। पर मैं शातिवादी हूं, और मैं उन्हें उसा के बाद सत्य के लिए लडने वाला सबसे बडा अहिंसक मानती हूँ। उन्होंने निहत्थी और निशस्त्र जनता के मन में ऐसी वीरता पैदा की जो इतिहास में अभूतपूर्व है। उनका दर्शन नकारात्मक नहीं है जीवन विरोधी नही, बल्कि जीवन की सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक परिपूर्ति का निदर्शक है।

३ डा० मारिया माण्टिस्सेरी—हम पश्चिम वालो को गांधी एक दूर के, चमकीले, छोटे से सितारो जैसा लगता है। पर जो उनके नजदीक हैं उनके लिए वह बहुत बडी हस्ती हैं। पश्चिम के शाति वादी हमेशा जसे अधीर होते हैं, जल्दी में होते हैं, सभाएँ सम्मेलन करने की उन्हे पडी रहती है, पर गांधी सचमुच शान्तिवादी हैं। उन्हे कोई जल्दी नही। वे महीनो तक जेल मे किसीसे बोले बिना

रहते हैं। उन्होंने भारत मे बालक को एक नई प्रतिष्ठा दी।

४ कुमारी मॉड रॉयडेन—यह विचित्र बात है कि आज ईसाई यह अनुभव करते हैं कि दुनिया का सबसे अच्छा ईसाई एक हिन्दू है। ईसा के शिष्यो मे सबसे बडा मैं महात्मा गाधी को मानती हूँ। सब स्त्रियों की ओर से हम गाधी जी को नमस्कार करते हैं कि उन्होंने सिद्ध किया कि स्त्री की इज्जत या आबरू को उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई नहीं छीन सकता। स्त्री पर अनिच्छा से किया जाने वाला विनय-भग उसकी विनय का नाश नहीं करता, यह बात गाँधी जी ने आग्रहपूर्वक कही। यह बहुत बडी बात है। सिर्फ यूरोप मे ही नही, दो अमेरिका जैसे बडे भू-खण्डों वाले पश्चिम मे ही नही, परन्तु पूर्व मे भी, जापान मे, कन्फ्यूशस के चीन मे भी—हिंसा बढती जाती है। ऐसे समय भारत अहिंसा मे अपनी श्रद्धा अखण्ड रख सकेगा? क्या इस युद्ध-जर्जर ससार में भारत हमे मार्ग नही दिखाएगा?

५ श्रीमती क्लेयर शेरिडन—इग्लैण्ड के समाचारपत्रो ने गाँधी जी को जान-बूझकर गलत पेश किया। बजाय उन ताना-शाहो के बकवास भाषण सुनने के अगर हमारे रेडियो से कभी नम्र महात्मा गाँधी की शातिपूर्ण वाणी यदि हम सुन पाते तो! लार्ड लण्डनडेरी ने कहा—"गाँधी हमारा (ब्रिटिश का) तिरस्कार करता है!" मैं कहती हूँ कि गाँधी और तिरस्कार ये दो शब्द साथ-साथ जा ही नहीं सकते। मैंने लेनिन का भी शिल्प बनाया था, गाधी का भी। दोनों के उत्तर समान थे, यह पूछने पर कि—"आप को यह मुखाकृति कैसी लगती है?' वे बोले—"मैं नहीं जानता, मैं

मर्यादाओं के उदाहरण कक्षा में प्रस्तुत किये। हेस्टिंग्ज की 'एनसाइक्लोपीडिया आफ एथिक्स एण्ड रेलीजन' में 'कान्टिनेंस' पर बहुत अच्छी सामग्री है। उन सब ऐतिहासिक तथ्यों के बाद भी अमरीकी छात्र यही सवाल करते कि—"गांधी का मार्ग मध्ययुगीन नैतिकता (मिडीवियल मॉरेलिटी) का मार्ग है।" मैंने उन्हें बताया कि अकेले अमेरिका में तीस हजार से ऊपर कैथोलिक 'नन' या उपासिकाएँ हैं। तो क्या उनके आजीवन अविवाहित रहने के व्रत को अप्राकृतिक या अनैतिक कहा जाए?

असल में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध क्या हों, इसीपर यह समस्या आधारित है। पूर्व और पश्चिम की इस बारे में धारणाओं में अन्तर है। पूर्व में सांख्य जैसे दर्शनों में प्रकृति को अन्ध और पुरुष को जड़ कहा है—और दोनों के संयोग से ही मन, बुद्धि, अहंकार जैसी तन्मात्राओं की उत्पत्ति को माना है। वेदांत आदि दर्शन तो माया कहकर सृष्टि के मिथ्यापन को ही महत्व देते हैं। फिर भी भक्ति का अधिकार मध्ययुग में दोनों वर्गों को था। ब्रह्मचारी और गृहस्थ दोनों आश्रम मुक्ति के समान अधिकारी थे। पश्चिम में जीवशास्त्र के अध्ययन के बाद, नये मनोविज्ञान ने काम को धर्म से उसी तरह विच्छिन्न कर दिया, जैसे अर्थ को धर्म से। उपनिषद्-काल से हमारे यहाँ सत्य और धर्म को पर्यायवाची माना गया। पर पश्चिम वाले खुदा और शैतान, सत्य और असत्य दोनों की समान सत्ता पर कई द्वैतवादी दर्शनों की बौद्धिक और तार्किक दृष्टि से सृष्टि करते रहे। परिणाम यह हुआ कि उनके धर्म-चिन्तन में शरीर और आत्मा के द्वैत को बड़ा महत्व दिया गया। उसीका प्रभाव

उन्नीसवीं शती के मनोविज्ञान पर भी पड़ा। बीसवीं सदी में आकर युंग जैसे मनोविज्ञानवेत्ता इस दुई को तोड़ने के लिए अधीर जान पड़े। संक्षेप में, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में मर्यादा के विधान को अब नये नृवंशशास्त्री भी, जैसे मार्गरेट मीड, या समाजशास्त्री भी जैसे सोरोकिन आदि पश्चिम में मानने लगे हैं।

स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व को समान स्वतन्त्रता देने की बात मान लेने पर, देश-काल-भेद से, प्रत्येक समाज में उसकी परिणति भिन्न होगी। यह कहना कठिन है कि आज की दुनिया में भारत का, या गांधी का आदर्श—जैसे विवाहोत्तर ब्रह्मचर्य पालन आदि—सब लोग मान ही लेंगे। भारत में ही उसे नहीं मानने वाले करोड़ों हैं। अतः इस प्रश्न को केवल आर्थिक स्वावलम्बन के लिए सन्तति-नियमन या प्रजा-निरोध, या उसके लिए सब प्रकार के बाह्य उपायों को सोचने के बजाय जैसा गांधी जी कहते थे, "सन्तति-निरोध से अधिक उपयोगी आत्म-निरोध है।" यह बात पश्चिम के कैथलिक आदि कई मत पन्थ भी मानते हैं।

काम विषयक आत्म-संयम का एक दूसरा पहलू है दहेज और

तुमि हे नारी ! अर्धेक स्वप्न तुमि अर्धेक कल्पना' (रवीन्द्रनाथ) आदि काव्यमय पुष्पांजलियां अर्पित की जाती हैं। पर प्रत्यक्ष में उसी हिंदी-प्रदेश में नारी का यथार्थ रूप जैनेन्द्र कुमार की 'त्यागपत्र' की मृणाल बुआ जैसा या बंगाल में शरच्चन्द्र की अनेक दुखियारी नायिकाओं जैसा रहा है। आज तक हमारा साहित्य और हमारी कला पुरुष-प्रधान रही है। ज्यों-ज्यों नारी का विकास होगा और उसे समानाधिकार मिलेंगे, यह चित्र बदलेगा। नारी के प्रति अतिरिक्त करुणा और सदा 'विशेषाधिकार' देने की बात कम होती जाएगी। नारी और हरिजन को समान रूप से पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक मानते रहने की मजबूरी कम हो जायगी। यह गांधी जी को श्रेय है कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों में जेल जाने, लाठियां खाने, सत्याग्रह के मोर्चों पर और सब स्थानों पर वे भारतीय नारी को समान भाव से सामने लाये। उनके पहले के नरम दलीय प्रार्थनापत्र वाले राजकारण में शायद ही कोई स्त्री आगे आई, न आतंकवादियों में मादाम कामा या कल्पना दत्त जैसे अपवाद छोड़ दें तो कोई स्थान स्त्रियों को था। बल्कि आतंकवादी दलों के और साम्यवादी पक्ष के भी—इतिहास साक्षी है कि बहुत कुछ फूट उनमें स्त्री प्रसंग को लेकर ही पड़ी। गांधी-प्रणीत मार्ग में ऐसी कोई गुह्यता नहीं थी, ऐसी कोई शस्त्रास्त्र चलाने की जरूरत नहीं थी। और इसलिए हमें धारासना में अवैध नमक की ढेरी में घुड़सवार ब्रिटिश सार्जण्टों से घिरी सरोजिनी नायडू आराम से अपने छोटे आईने में देखते हुए नाक को पाउडर लगाती हुई मिलती है, या इलाहाबाद की कोलतार की सड़क पर कड़ाके की सर्दी में मोतीलाल नेहरू की

वह कमला पालथी मारे हुए धरना देती हुई दिखाई देती है। यह गाँधी का ही चमत्कार था कि उसने फिर से भारतीय नारी को सुप्रतिष्ठित किया। परम्परावद्ध नारी को पश्चिम से जा मिलाया।

गाँधी जी के बताये हुए मार्ग मे इद्रियो पर वश बहुत बडा मानी रखता है। सत्य को जानकर, किसी भी तरह की आसक्ति न रख-कर, सयम से अहिंसा या प्रेम के सहारे जीना, कहने मे आसान पर करने मे अत्यन्त कठिन बात है। जीवनरूपी रथ की अपनी गति है। उसके इद्रियरूपी घोडो को बिना लगाम या सयम के चौकडी नही मारने देना चाहिए, वर्ना रथ जल्दी टूट जायगा या दौड ही खत्म हो जायेगी। इन्द्रिय-सयम का ही दूसरा नाम ब्रह्म मे स्थित होकर उसी तरह जीना या 'चर्या' करना है। गाँधी जी कहते थे कि जो जीभ पर विजय न पा सका वह स्वराज्य कैसे टिका पायेगा ? यह बात बहुत सही है। अपने हाथो अपने ऊपर बन्धन लगा लेने से, समझ-बूझकर अनासक्त होने से, जीवन की गति बढती है—यह श्रेय की ओर तभी बढता है, जब प्रेय हाथ से न छूटे। वृक्ष जड धरती से बँधा है, नदी अपने किनारे से बँधी है, सितार की खूटियाँ उसके तारो को कसे रखती हैं। कोई चित्र नहीं है जो चौखट से बाहर निकला हो। मनुष्य की भी मर्यादाएँ हैं, कर्म की धर्म का किनारा है। दृष्टि की क्षितिज-सीमा है। भाप बन्धन मे बँधकर बहुत बडी ताकत बन जाती है, उससे इजन चलते हैं। पानी बँधकर बिजली पैदा कर सकता है। इसलिए एक अकेले आदमी की इच्छा ही सब कुछ नही है। यो तो अराजकता की ओर हम बढेंगे। समाज की इच्छा भी है, वह केवल एक और एक ऐसे सख्यावद्ध, अनेकों

को इच्छा या समवाय मात्र नहीं है। वह उससे कुछ अधिक है।

'धम्मपद' में बुद्ध ने कहा था—

अत्ता हवे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञत चारिनो॥

अर्थात् दूसरों को जीतने की अपेक्षा अपने को ही जीतना श्रेष्ठ है। जिस आदमी ने अपने-आपको जीत लिया, जो अपने-आपको संयम में रखता है, उसकी जीत को न देवता, न गंधर्व, न मनुष्य ही हरा सकते हैं।

गीता के 'युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु' का यही अर्थ था। गांधी जी के ग्यारह व्रतों में इसी कारण से आत्म निग्रह और ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया गया था। उन्होंने कहा था कि जैसे वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए कुछ शर्तें आवश्यक होती हैं, वैसे ही जीवन में कुछ कर गुजरने के लिए अध्यात्म के क्षेत्र में भी कुछ आवश्यक संयम नियमादि शर्तें जरूरी हैं। अपने जीवन को इसलिए उन्होंने 'सत्य का प्रयोग' कहा।

इसी प्रयोग में उन्हें एक बहुत बड़ा कारगर उपाय हाथ लगा—वाणी का संयम या मौन। वे लिखने, बोलने में कभी भी शब्दों का अपव्यय पसंद नहीं करते थे। वे लिखते हैं कि, 'सत्याग्रही के लिए आध्यात्मिक अनुशासन की दृष्टि से मौन व्रत बड़ा ही उपयोगी है। अतिशयोक्ति करना, सत्य को बढ़ा-चढ़ाकर कहना जाने अनजाने हर मनुष्य की कमजोरी होती है। इसपर विजय प्राप्त करने के लिए मौन बहुत जरूरी है। जो आदमी कम बोलता है वह अपने भाषण में अविचारी नहीं होगा। वह हर शब्द को तौल-तौलकर

काम में लायेगा।"

शुरू-शुरू में गांधी जी ने समय बचाने के लिए, सामाजिक व्यस्तता के जीवन में से कुछ क्षण आत्म-चिन्तन के लिए निकालने के लिए सोमवार के मौन को अपनाया। बाद में तो वह उनकी जीवन-पद्धति का एक अंग बन गया। जो बात जीभ या वाणी के सम्बन्ध में सही है, वही अन्य इन्द्रियों के लिए भी और उनसे उत्पन्न आस्वाद या आसक्ति के सम्बन्ध में भी बिल्कुल सही है। गांधी जी ने अपने जीवन में ईशे उपनिषदों की इस बात को सार्थक करके सिद्ध कर दिया, आचरण और उदाहरण से, कि "जो त्याग करता है, वही सच्चा भोग करता है।" आनन्द केवल पाने में नहीं, देने में भी है। सुख बांटने से बढ़ता है, जमा करके रखने से वह दुख में परिणत हो जाता है, उसमें पानी में ठहराव से पैदा होने वाली काई सिवार या अंगूरों को जमा करने से पैदा होने वाली विकृत शराब की मात्रा जैसी बात है। मनुष्य की विशेषता इसीमें है कि वह अपनी पशु प्रवृत्तियों पर विवेक और प्रज्ञा से अंकुश रख सकता है। वह चाहे तो अमृतमय श्रेय से श्रेष्ठ मार्ग की ओर जा सकता है, चाहे तो आत्म हत्या या मृत्यु की ओर बढ़ सकता है। जीवन का धर्म आत्म हनन नहीं है। अति विलास, अति सुखोपभोग, अति असंयम एक प्रकार का धीमे धीमे ज़हर पीने जैसा ही है। गांधी ने बताया कि 'मृत्योर्माऽमृतंगमय' वाला मार्ग कैसे मनुष्य के अपने हाथों में है। संसार के नीतिशास्त्र के विकास के इतिहास में व्यक्ति के संकल्प पर यह आग्रह जो पश्चिम में सुकरात, ग्रीन या कांट जैसे दार्शनिकों में पाया जाता है, गांधी ने पुन: प्रतिष्ठित

और इसीमे उनकी 'आत्मा' की 'महत्ता' समाई हुई है। आन द कुमार स्वामी ने लिखा है कि महात्मा शब्द बौद्ध दर्शन मे आता है जहाँ क्षुद्र आत्मा और श्रेष्ठ आत्मा का भेद बताया गया है। जो आत्मा आत्म-सयमित है, वही महान हो सकती है। जो अपने काबू में नही, वह कैसी आत्मा ?

और गाधी ने यम-नियम प्रत्याहार का कोई 'पथ' या जकड-बन्दी नही बनायी। औरो पर जबर्दस्ती से कोई चीज नही लादी। खुद झेला, खुद किया। खुदी को बलद इतना किया कि खुद को खुदा समझने की जरूरत नही पडी। स्वयम् नर में का नारायण प्रकट हो गया। वह नारायण खोजने उन्हें 'रुद्धद्वारे देवालयेर अध कोणे' नही जाना पडा, वह हर दरिद्रनारायण में ही मिल गया।

अध्याय ६

शिक्षा : सहज नीति



सारे आदर्श और सिद्धांत सुनने में मीठे लगते हैं, किताबों में पढ़ते समय बहुत सुन्दर जान पड़ते हैं, परन्तु सच्ची समस्या उन्हें आचरण में लाने की है। यहां हमारे बचपन में प्राप्त होने वाले संस्कार और शिक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। भारत जैसे साठ प्रतिशत निरक्षर देश में ही नहीं, परन्तु साक्षरता सौ फी सदी है ऐसे पश्चिम के देशों में भी बार-बार यह प्रश्न उठता है कि क्या आज की शिक्षा जीवनानुकूल है? गोडसे और ओसवाल्ड (कैनेडी का हत्यारा) दोनों शिक्षित व्यक्ति थे। आइकमान या हिटलर, स्तालिन या माओ-त्से-तुंग वे पढ़े-लिखे लोग नहीं। और बीसवीं सदी के इतिहास को हिलाने वाले सहसा सारी मानवता के ज़मीर को झकझोर देने वाले में कुछ नाम, चाहे भारत के हों या विदेश के, क्या हमें यह सोचने पर मजबूर नहीं करते कि हमारी शिक्षा-पद्धति और शिक्षा नीति के बारे में हमें दुबारा सोचना चाहिए।

और दूसरी ओर एक बहुत बड़ी परंपरा उन महापुरुषों की है जिनकी कालेजों या स्कूली शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर थी, और जो न केवल महापुरुषों में गिने जाते हैं पर सुशिक्षितों को भी मार्ग-

दर्शन कराने वाले सिद्ध हुए हैं अकबर और शिवाजी, रामकृष्ण परमहस और रवीन्द्रनाथ ठाकुर केशवसुत और गालिब, महजूर और मैथिलीशरण गुप्त, विनोबा और कामराज और ऐसे कई नाम सहज याद आ सकते है। पुराने सतो की तो बात ही छोडिए। 'और कहैं कागद की लेखी। कबिरा कहै आँख की देखी।' गांधी जी ने भी अपनी स्वयम् की शिक्षा के बारे मे लिखा है—

"मैं अपनी सीमाए जानता हू। मुझे कोई नाम लेने लायक युनिवर्सिटी की शिक्षा नही मिली। हाई स्कूल मे भी औसत से ऊपर कभी मेरा दर्जा नही रहा। मैं किसी तरह परीक्षा पास हो गया, इसीका मुझे धन्यवाद मानना चाहिए। स्कूल मे किसी तरह कोई विशेष योग्यता पाना मेरी आकाक्षाओ से परे था। फिर भी शिक्षा के मामले मे मैं सामान्यत बहुत सख्त विचार रखता हू—उच्च शिक्षा के बारे मे भी। और यह देश के प्रति मेरा ऋण है कि उन विचारो को स्पष्ट रूप से रखू, चाहे उससे कोई लाभ हो या न हो, या उसका उपयोग कोई करना चाहे या न चाहे। मैं सब सकोच छोडकर चाहे लोग मेरी हँसी ही क्यो न उडायें अपने विचार सामने रखता हू

'१ मैं शिक्षा के विरुद्ध नही हू। दुनिया मे मिलने वाली ऊचा से ऊँची शिक्षा के भी विरुद्ध नहीं हू।

"२ जब उस शिक्षा का निश्चित उपयोग हो तो राज्य उसके लिए खर्च करे।

"३ मैं सामान्य राजस्व म से सारी उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के विरुद्ध हू

"४ यह मेरा दृढ विश्वास है कि हमारे कॉलेजो मे दिया जाने वाला तथाकथित कला कहलाने वाला शिक्षण, निरा पैसे का दुरुपयोग है। और उससे पढ-लिखे वर्ग मे बेकारी बढी है। इतना ही नही, उससे उन अभागे लडके-लडकियो का, जिन्हे हमारे कालेजो की इस सारी पिसाई मे से गुजरना पडता है, मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।

"५ भारत मे जिन विदेशी भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा दी जाती है, उसने देश को अपरिमित बौद्धिक और नैतिक नुकसान पहुँचाया है। हम अपने जमाने के बहुत करीब हैं, इसलिए कितना नुकसान हुआ है इसकी भयकरता पूरी तरह जाँच नही सकते। और हम, जिन्होने ऐसी शिक्षा पाई है एक साथ शिकार और निर्णायक दोनो होते हैं। यह प्राय असभव चमत्कार है कि एक ही व्यक्ति दोनो हो।"

आगे चलकर गांधी जी ने इसी लेख मे बताया है कि कैसे शुरू म १२ वष की उम्र तक वे गुजराती मे पढते रहे। हाई स्कूल मे पहले तीन साल तक मातभाषा ही माध्यम था। फिर भी स्कूल मास्टर अंग्रेजी ही विद्यार्थी के दिमाग मे भरने मे लगे रहते। आधा समय अंग्रेजी की वतनी और उच्चारण रटने मे जाता। चौथे साल से सच्ची मुसीबत शुरू हुई—सारे विषय अंग्रेजी मे पढ़ाये जाने लगे। सस्कृत और फारसी भी अंग्रेजी माध्यम से पढाई जाती थी। क्लास म गुजराती मे बोलने पर मनाही थी। गलत-सलत अंग्रेजी चल सकती थी। खुद मास्टर साहब की अंग्रेजी कौन-सी निर्दोष थी ?

इस लम्बे उद्धरण से हमारा अभिप्राय इतना ही है कि भारत के सन्दर्भ मे विशेष रूप से—और भारत और विश्व के अन्य देशो की कई समस्याएँ एक-सी हैं इसलिए विश्व की दृष्टि से भी—शिक्षा नीति के विषय मे विचारणीय प्रश्न मुख्यत ये हैं

१ शिक्षा नगरोन्मुखी हो या ग्रामोन्मुखी ?

२ शिक्षा यन्त्राश्रित हो या हस्त शिल्पाश्रित ?

३ शिक्षा धर्म-निरपेक्ष हो या सवधर्म-समभावी हो ?

४ शिक्षा में नैतिक शिक्षा का स्थान अनिवार्य हो या न हो ?

५ शिक्षा अहिंसक हो या सैनिकीकरण के हेतु हो ?

६ शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो या विदेशी भाषा ?

७ शिक्षा का व्यय राज्याश्रित हो या व्यक्ति की आय के आधार पर ?

८ शिक्षा काल में विद्यार्थी कमायें, स्वावलबी बनें या न बनें ?

९ शिक्षा मे मनोरजन या ललित कलाओ का स्थान हो या न हो ? यानी क्या शिक्षा केवल समाजोपयोगी (फक्शनल) हो ?

१० सहशिक्षा हो या न हो ? यौन शिक्षण दिया जाय या नहीं ?

ये प्रश्न एक-दूसरे से जुडे हैं, और इनका विचार पाँच स्तरो पर हो सकता है नागरिक पिता माता या अभिभावक, विद्यार्थी-विद्यार्थिनियाँ, गुरु या अध्यापक, शिक्षा पद्धति या पाठ्यक्रमादि सस्था-व्यवस्था, और इन सबसे ऊपर इन शिक्षालयो के व्यय के लिए जहाँ से धन आता है वह सूत्र राज्य, मठ, मन्दिर, गुरुकुल

आदि, सहकारी सामाजिक संस्थाएँ या व्यक्तिगत दान। इन पाँचो दृष्टियो से ऊपर के ग्यारह प्रश्नो का विचार, गांधी जी की नीति का मुख्य सूत्र मानकर, हम करने जा रहे हैं।

सर्वसामान्य नागरिक या माता-पिता अभिभावक की साधारणतया इच्छा यही होती है कि उनका बालक पढे, बढे, परिवार चलाये, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बने, राष्ट्र का प्रतिष्ठित नागरिक बने। गाँवो मे जहाँ संयुक्त परिवार अभी भी हैं, वहाँ 'कमाऊ पूत' पर ही जोर होता है। इसलिए उसी पढाई को अच्छा माना जाता है, जो बाप के वानिज-व्योपार, खेती बाडी, व्यवसाय-उद्योग को आगे बढा सके। जमींदारी प्रथा के हटने के बाद, बडे खेतो पर एकाधिकार टूटने के बाद गाँवो मे गाँव वालो का रस कम होता जा रहा है। स्वतन्त्रता के बाद गाँव से शहर की ओर संक्रमण जोरो से बढ गया है। १७ से १६ प्रतिशत तक आबादी महानगरो की ओर खिचती जा रही है। नतीजा यह है कि बडे शहर भी देहात बनते जा रहे हैं। जहाँ जात पाँत का चक्कर टूटा, किसी भी व्यवसाय-विशेष पर पुत्र का एकाधिकारत्व जाता रहा। और ब्राह्मण भी जूतों की दूकानें चलाते हैं और मास और शराब बेचते नजर आते हैं। क्षत्रिय अपना पुश्तैनी लडने-भिडने का पेशा छोडकर नाचते-गाते और करुणारस की कविता करते नजर आते हैं। वैश्यो ने तो सब क्षेत्रो पर छाने की जैसे ठान ली है—'सर्वे गुणा काचनाम-श्रयन्ति'। और शूद्र को शूद्र कहना अवैध है, उनमे बडे-बडे नेता और विद्वान पैदा होने लगे हैं। तात्पय पुरानी वर्णाश्रममर्यादाएँ कभी से टूटने लगी थी—पहले महायुद्ध के समय से ही। जो

शहरो मे वे प्राय टूट-सी गई हैं। नतीजा यह है कि जनतन्त्र मे सबको समान भाव से सब तरह की शिक्षा सुलभ रूप से मिले इसकी माग जोरो पर है। इसका एक अनिवार्य बुरा पहलू यह है कि सब 'बाबू' बनना चाहते हैं, 'सफेद कालर' वाली 'पाढरपेशा' क्लर्किया सबको आकर्षित कर रही हैं। नौकरशाही के सुरसा की तरह बढने से गाँधी जी ने जो बात उठाई थी—'गावो की ओर!' उसका महत्त्व अब समझ मे आता है। अगर सब ही शहरी हो जायँगे, तो खेती कौन करेगा?

उत्तर मिलता है यन्त्र। यन्त्रो के अत्यधिक उपयोग से मानव भी यन्त्रीकृत होता जाता है, इससे बचने का क्या उपाय है? गाँधी जी ने कहा कि जितने जीवनोपयोगी, आवश्यक यन्त्र हैं, वे काम मे लाये जायँ, पर मनुष्य यन्त्र का स्वामी रहे, दास न बने। जब बुनियादी शिक्षा के बारे मे बहस चला और सन् चालीस के करीब जब कम्यूनिस्ट भी वैयक्तिक सत्याग्रह मे शामिल हो रहे थे, श्री अ० डागे ने सुझाव दिया था कि कताई बुनियादी शिल्प रहे, पर उसे कताई बुनाई की बिजली की मशीन से सिखाया जाय। गाव-गाँव मे 'डाइनेमो' लगाए जायँ। किसीने जापान का भी उदाहरण दिया। यह ठीक है कि मनुष्य के श्रम का अत्यधिक मूल्य ग्रहण किया जाय, पर जैसे हम 'अर्थ साम्य' वाले अध्याय मे कह चुके हैं भारत, अफ्रीका या अन्य कई दक्षिण पूर्वी एशियाई देशो की समस्या जन-सख्या को पर्याप्त काम देने की, मानवी श्रम के उपयोग की है न कि उसे यूरोप-अमेरिका या रूस की तरह यन्त्रो द्वारा सपूत करने की। इसलिए गाँधी जी ने कहा कि शिक्षा न केवल ग्रामोन्मुखी हो,

पर यह हस्तशिल्प पर आश्रित भी हो। अब संसार के सब शिक्षा शास्त्री, ड्युई हो या पेस्टेलोज्जी, मानने लग गये हैं कि शिक्षा का आधार ऐसा प्राकृतिक और सहज होना चाहिए कि वह मनुष्य के भीतर की सृजनात्मकता को अधिकाधिक प्रोत्साहन दे सके। गांधी जी ने, अपनी अन्तर्दृष्टि से उस बात को भाप लिया। और यन्त्र द्वारा निर्मित कृत्रिम और वस्तु-प्रधान दूरी को टालने की बात कही।

मेरे अल्प मत में गांधी की शिक्षा-क्षेत्र को सबसे बड़ी देन यही सहज धर्म की प्रस्थापना थी। अल्डुस हक्सले जब सन् १९६१ में रवीन्द्रनाथ के शतसांवत्सरिक उत्सव में पधारे थे, तब उनकी सेवा में कई घण्टे बिताने का मुझे सौभाग्य मिला। उनसे बहुत-सी बातें भी हुईं। उन्होंने अपने मुख्य भाषण में रवीन्द्रनाथ की शिक्षा को बहुत बड़ी देन यह बताई कि उन्होंने 'शरीर से बलशाली और मन से सुसभ्य' मानव पैदा करने का आदर्श सामने रखा। "यह मानव का समग्र विकास," हक्सले ने कहा, "पश्चिम में ग्रीक लोग करना चाहते थे, पर बाद में वह न हो सका।" शरीर से बलशाली बनते ही मानव दूसरे पर विजय प्राप्त करता, दूसरे के प्रदेश को झपटकर छीनना, हिंसा करना चाहता है। और यहीं उसमें गिरावट पैदा होती है। रोम या अन्य विशाल साम्राज्यों के उत्थान-पतन का यही लेखा है। गांधी जी की बुनियादी शाला में, सेवाग्राम में जब सन् ३७-३८ के करीब यह सुझाव आया कि एक अखाड़ा भी बनाया जाय और 'तालीम' को मराठी अर्थ में व्यायाम से भी नियमित रूप से जोड़ दिया जाय, तो गांधी जी ने, जो अनिवार्य सैनिक शिक्षा के

विरुद्ध थे, इस बात को पसन्द नहीं किया। गांधी मनुष्य के शरीर या मन को अतिरिक्त मांसलता या पेशलता से मण्डित नहीं करना चाहते थे। उनके लेखे शिक्षा का उद्देश्य ही मनुष्य को अधिक सहज मानव बनाना था। वे लिखते हैं "मैं बच्चे के हाथ दिमाग, आत्मा-सबका विकास चाहता हूं। आज हाथ तो जैसे लुज पड गये हैं। आत्मा को तो जैसे हमने भुला ही दिया है।" गांधी जी कोरी किताबी शिक्षा के विरुद्ध थे। वे साथ ही साथ आत्मा का विकास भी चाहते थे।

और इसीमें से प्रश्न शिक्षा मे धर्म और नैतिकता की अनिवार्यता का उठ खड़ा होता है। क्या शिक्षा एकदम धर्म निरपेक्ष हो? या धर्म-विरोधी हो, जैसे साम्यवादी देशों में? या धर्माश्रित हो—जैसे वटिकन, बौद्ध विहारों में या मकतबों में होती थी? आज भी बड़े-बड़े देशों में इस समस्या को लेकर बहुत बहस होती है। सन् ६० में ब्लूमिंगटन इण्डियाना (अमेरिका) में मैं एक फुल-ब्राइट कान्फ्रेंस में गया था, जिसमें एक सवेरे चार घण्टे इसीपर बहस होती रही कि यूनिवर्सिटी की शिक्षा में तीस प्रतिशत तक अमेरिका में जो गिरजाघरों से पैसा आता है (और उसके साथ उनकी शर्तें भी) उस 'पैरोकीयल' (धार्मिक या साम्प्रदायिक) शिक्षा का क्या हो? एक तरुण उग्र विचारों के प्रोफेसर ने कहा कि विद्यार्थियों में हमें सन्देह और शंका करने की वृत्ति बढ़ानी चाहिए। वही 'शंका की स्वतन्त्रता' बहुत महत्त्वपूर्ण देन है, दकार्त के बाद के सारे यूरोप की। सारे विज्ञान उसीसे निकले इत्यादि-इत्यादि। मैंने एक प्रश्न पूछ लिया कि 'शंका की स्वतन्त्रता' (फ्रीडम टु डाउट) तो ठीक है,

पर एक और स्वतन्त्रता श्रद्धा की भी तो हो सकती है (यानी 'फ्रीडम आफ बिलीफ')। और इसके बाद चर्चा का रुख बदल गया। मैंने पूछा कि यदि किसी विश्वविद्यालय के दाताओं में शराब बनाने वालों की संख्या विशेष हो, और वे शराब की 'गुण'-वृद्धि पर ही शोध वृत्तियाँ देते हो, तो यह कौन-सी वैज्ञानिक 'स्वतन्त्रता' है? उस सम्मेलन में मेरी बातों को लोगों ने गौर से सुना, बाद में पता लगा कि शायद कुछ लोगों ने बहुत बुरा भी माना। पर नैतिकता का प्रश्न कम से कम शिक्षा के क्षेत्र में हवा में टाल देना गांधी जी कभी नहीं चाहते थे। उनके लिए धर्म और नीति समानार्थी थे। इसलिए उन्होंने अपनी प्रार्थनाओं में, जो उनके शिक्षालयीन जीवन का एक अवश्यक अंग थी—'सर्वधर्म समभाव' को महत्त्व दिया था। वे शिक्षा का आधार केवल भौतिक नहीं मानते थे। वह वैसे हो भी नहीं सकता। उसकी अवश्यम्भावी प्रतिक्रियाएँ पश्चिम के देशों में भी होने लगी हैं।

इसी समस्या से जुड़ी हुई समस्या है शिक्षा में मातृभाषा को माध्यम के रूप में किस इयत्ता तक या दर्जे तक काम में लाया जाय? गांधी जी ने बार-बार मातृभाषा के महत्त्व को दुहराया है। प्रायः दुनिया के सभी देशों में शिक्षा का माध्यम उस देश की भाषा होती है, जो वहाँ के बहुसंख्य नागरिकों की मातृभाषा होती है। रूस में, जापान में, जर्मनी में, यहाँ तक कि नवोदित छोटे-से इसराएल में भी विज्ञान आदि की उच्चतम शिक्षा मातृभाषा के द्वारा दी जाती है। संसार के नवीनतम और उच्चतम ज्ञान-विज्ञान को अपनी भाषा में जल्दी और सीधे दूसरी भाषाओं से अनुवाद करके

माजन हुआ। बम्बई को लेकर दंगे हुए। आसाम में
साथ बुरा सलूक हुआ। मद्रास से तेलुगू और तमिल-
हुए। और गोआ में कोकणी हो या नहीं मैसूर-
सीमारेखा कहां हो आदि समस्याएं सन् ६६ तक चलती
विली भाषी हिन्दी भाषी प्रान्त में अलग भाषिक स्वाय-
ई, और इस प्रकार से पता नहीं कितने और दराडयों
टेगा। और इस सारी प्रक्रिया में केन्द्र की भाषा अंग्रेजी
रहती है। राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में हिन्दी
बीमे अंग्रेजी हटाने के पहले कदम पर २६ जनवरी,
दक्षिण में भीषण दंगे हुए और इस प्रकार से यह समस्या
मने के उलझती ही जाती है। दोष दोनों तरफ है, और
दोनों ओर से हुई हैं हिन्दी-भाषी और अहिन्दी-भाषी
की ओर से। इसलिए एक-दूसरे पर दोषारोपण करते
सारा पुरानी घटनाओं को दुहराने से कोई लाभ नहीं।
व में इस राजनैतिक महत्त्व वाले भाषा के प्रश्न ने बहुत
कता पैदा कर दी है। शिक्षा राज्यों का स्वायत्त विषय
न्द्र अपने हाथ में सब विश्वविद्यालयों या या स्कूलों का
। से सकता। जिन थोड़े-से विश्वविद्यालयों, कालेजों या
उसस सीधे अनुदान मिलता है, उनकी स्थिति और अलग
है। अब तक के ५७ विश्वविद्यालयों में ७३ ऐसे विश्व-
हैं जहां कला संकाय के विषयों में हिन्दी परीक्षाओं का
माध्यम तो है ही, १५ से अधिक में पढ़ाई भी हिन्दी में
है। ... [illegible]

जीवन म कोई उपयोग नही होता । यदि यह तक किया जाय कि इन विषयो को पढाने से विद्यार्थियो की स्मृति, तर्क शक्ति, कल्पना शक्ति आदि का विकास होता है, तो वह भी सच नही है । इस दिशा मे किसी ऐसे साहसपूर्ण शिक्षाशास्त्री की आवश्यकता है, जो हमारे पाठ्यक्रमो को देशानुकूल बनाये, विशेषत यहा की आर्थिक स्थिति ध्यान मे रखकर मितव्ययिता पर जोर दे।

अन्तिम दो प्रश्न है शिक्षा मे मनोरजन या ललितकलाओ का स्थान, और सहशिक्षा या यौन विज्ञान की शिक्षा के विषय मे। गांधी जी ने शिक्षा मे प्रारम्भिक कक्षाओ से ही सगीत को अनिवार्य बनाने पर जोर दिया था । प० खरे शास्त्री की यह सिफारिश उन्होने मानी थी। और लिखा था कि मेरा बस चले तो स्वतन्त्रता के बाद मैं सब बच्चो को सगीत सिखा द । अन्य कलाओ के विषय मे उनके मत कही स्पष्ट रूप से नही मिलते । पर चित्र, शिल्प स्थापत्य को वे उपयोगिता से सम्बद्ध मानते थे। छात्र जीवन मे खेल कूद के महत्त्व को वे जानते थे पर उसके लिए विशेष समय और धन व्यय करने के पक्ष मे वे नही जान पडते । बुनियादी तालाम के पाठ्यक्रम मे उन्होने प्रकृति निरीक्षण का महत्व दिया है, परन्तु महँगे विदेशी खेलो का नही। गाधी जी ने सहशिक्षा को माना था। परन्तु वे बच्चो के मन मे छोटी उम्र मे कुतूहल बढाने के पक्ष मे नही थे। यौन-विषयो पर खुली चर्चा हो, जिज्ञासा का समाधान किया जाय। पर अमुक वय तक अमुक बातो को बच्चो को बताना जरूरी न माना जाय, यही बराबर उन्होने कहा है। पुस्तक 'सयानी कन्या से' मे महादेव देसाई की भूमिका इस दृष्टि से पठनीय है। चूकि

स्त्री-पुरुष सबध को वे ब्रह्मचर्य की उच्च नैतिकता की दृष्टि से देखते थे, वे उसका खिलवाड बना देना नही चाहते थे।

इस प्रकार म गाधी जी ने शिक्षा के क्षेत्र म भी मौलिक अवदान दिया है। उनके दिए कई प्रश्नो के उत्तर ऐसे हैं, जिनसे न केवल हम पर सारी दुनिया आज भी बहुत कुछ सीख सकती है। क्या हमारे सोचने वाले भाई बहनो का गम्भीरतापूवक उन बातो का फिर से मनन नही करना चाहिए?